

महोपाध्याय श्री यशोविजयगणिपतीता

* जैन तक्त भाषा *

(हिन्दी—अनुवादसहित)



:: अनुवादक ::

पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल



- प्रकाशक मंत्रीगण -

श्री तिलोक रत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड
पा थ डी, (अ ह म द न ग र)

५१-५१८६०

प्रकाशकीय—

महोपाध्याय श्री यशोविजयगणिविरचित जैन तर्क भाषा वा दार्शनिक जगत् में महन्वपूर्ण स्थान है। उपाध्यायजीके प्रगाढ़ पाण्डित्य और गंधोरतम विचारोंकी इस ग्रन्थ में सुस्पष्ट अलक मिलती है। विवेचन-शली सुन्दर है, किन्तु उसमें गूढ़ता भी अत्यधिक है। जिस विषयका प्रतिवादन करना होता है, उसके बारेम जैन-अजैन किसी भी दार्शनिक दृष्टिकोण की पूर्व पक्ष के रूपमें चर्चित्य प्रस्तुत करते रामय वे ऐसी खूबी रखते हैं जिसे अध्येता सहज ही नहीं समझ सकता। पर जब उसे उस प्रनिधिका रहस्य भली-भाँति समझ आता है तब उपाध्यायजी की अप्रतिम प्रतिभा और विशिष्ट दौली के विषयमें अद्भुत और आदर की भावना और यह जाती है, इसीलिये अध्येता और अध्यापक ग्रन्थ की निजी विद्येपता के बारेमें मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ अनेक विविधालयों के पाठ्यक्रमोंमें गिर्धारित है। इसीलिये इसके आधाय को सुल्पण्ट करने के लिये कई टीकाएँ हुई हैं और वे रात्र प्रकाशन संस्थाओं के द्वारा प्रकाशित होकर जिजामुओं के समझ प्रस्तुत की गई हैं, किन्तु स्वतंत्र भारत की राष्ट्रभाषा में अद्याबधि कोई अनुवाद इस ग्रन्थ का नहीं हो सकनेको कारण विद्वार्थियों की तरफ से हमरे पास बार-बार माँग होती रहती थी, अनेक अध्यापकों के भी इस तरफ सकेत थे।

अमण संघके आचार्यसचार्ट परमथद्वेष महामहिम पंडितरत्न जैनविदाकर पूज्य श्री १००८ श्री बानन्द कृष्णजी म., समाज में सम्यक् ज्ञान-दर्शन-वारितका प्रचार विशेष रूपमें हो, एतद्वय स्वयं जागरूक रहते हुये जनता का ध्यान इस और आकृष्ट करना आवश्यक समझते हैं।

बदनौर चातुर्मास में अपने एक शिष्य को जैन-तर्क भाषा का अध्ययन करने समय शिष्य द्वारा पुनः पुनः पूछे जानेपर उस ग्रन्थ के विषयमें शिष्य की कठिनाई का अनुभव किया और छात्रोंद्वारा इसके हिन्दी अनुवाद की माँग की पश्चार्यता पर आपका ध्यान आकृष्ट हुवा।

पूज्य श्रीजी का सं. २०१८ का चातुर्मास आश्वी जिला अहमदनगरमें हुआ। उस समय कई विद्यारशिक धावकोंने पाठ्यर्थी परीक्षा बोर्ड की उच्च परीक्षाओं के पाठ्यग्रन्थों के प्रकाशनार्थ अपनी उदार भावना अभिव्यक्त की थी। अबतक बोर्ड का पुस्तक प्रकाशन विभाग, जैन सिद्धान्त विशारद परीक्षा तक के पाठ्यग्रन्थों के प्रकाशन में अपनी शक्ति का उपयोग कर रहा था। जब समाज के उदारहृदयी मदगृहस्थों के सहयोग विशिष्ट ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ भी प्राप्त होनें लगे, तब इसकी अपता और अधिक बढ़ जानेसे जैन सिद्धान्त शास्त्री और जैन सिद्धान्ताचार्य के पाठ्यश ग्रन्थों के प्रकाशन का इसने निश्चय किया।

पूज्य श्री जी का चातुर्मास सं. २०१९ में घाटकोपर भैं हुआ, उस समय प्रसिद्ध महासनीजी श्री रंभाजी म., बिदुली श्री नुमति कुंवर म., जानसंपादन परायणा श्री चम्दनकुमारीजी म., आदि सतीपरिवार के साथ चातुर्मासार्थ घाटकोपर में ही विद्याजित थीं। इस सतीपरिवार में जैन तर्कभाषाका अध्ययन चालू था, विद्वत्परिषद् के प्रसंगसे हम तीनों मत्त्री वहीं उपस्थित हुये थे। उस समय जैन तर्क भाषा के हिन्दी अनुवाद का प्रश्न उठा और उस कार्य को अजीव उपयुक्त मानकर बोर्ड के पुस्तक प्रकाशन विभाग ने उसकी सहृष्ट

स्वीकृति दे दी । बोर्ड के साहित्य-मन्त्री पं. शोभाचन्द्रजी भारिल्ल को अनुबाद का कार्य सौंपा गया, जिसे पंडितजीने बड़ी तत्परता के साथ यथाशक्य शीघ्र ही सम्पादित कर दिया ।

पाठड़ी परीक्षा टेंट हे जिजो मुद्रणालय 'श्री रुद्रार्च गुदपालय' के उन्नत दसके मुद्रणकी व्यवस्था की गई । मुद्रण का कार्य पूर्ण होते ही अनेक स्थानोंसे पुस्तक की माँग तेजी से आने के कारण बाइंडिंग के पहले ही अनेक प्रतियाँ कच्ची बाइंडिंग होकर भेज दी गई । अनुबाद की प्रकाशनाके साथ कुछ विद्वानोंने उसमें 'विशिष्ट स्थलोंके विवेचन-स्पष्टीकरण' का एक परिशिष्ट अन्त में जोड़नेका भी सुझाव दिया । यह सुझाव उपयुक्त होनेसे गत वर्ष पूज्य श्रीजी के देहली-चानुमसि में शास्त्रिक जगत के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् एवं पाठड़ी बोर्ड की विद्यालयित के माननीय मदस्य डॉक्टर इन्द्रचन्द्रजी शास्त्री एम. ए., पी. एच. डी. का समागम हुआ, उनसे परिशिष्ट के बारेमें बात हुई । आपने उसे बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार किया और कुछ ही दिनों में इस कार्य को सम्पादित कर हमें प्रकाशनार्थ सौंप दिया । इन दिनों पं. भारिल्लजी 'रलाकरावतारिका' के हिन्दी अनुबाद में तत्पर होने से डॉक्टर इन्द्रचन्द्रजी को हमने कार्यभार जिस भावना से सुपूर्द किया था, डॉक्टर सा. ने उम्म भावना के औचित्य को मान्य कर के कार्य सम्पादन में जो उत्साह दिखाया है, वह सर्वथा सत्य है ।

इस प्रकार जैन तर्क भाषा के प्रस्तुत संस्करण को मूल-अनुबाद और परिशिष्टसहित सांगोपांग तैयार कर के विद्युत्य और छात्रोपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है । आशा है जिज्ञासुओं की जिज्ञासा को तृप्त करने में यह यत्न अवश्य सहायक सिद्ध होगा ।

इस पुस्तक के प्रकाशन कार्य में जिन सदृगृहस्थों के अर्थिक आश्रय का उपयोग किया गया है, उनकी नामावली इस प्रकार है—

- ५०१ श्री रत्नचन्द्रजी भिक्षुदासजी बाँडिया, पनवेल
- ५०१ श्री भैरुलालजी दीपचन्द्रजी गांधी, लोनावला
- ५०१ श्री सौ. गुलाबबाई कचरदासजी लोढ़ा, अहमदनगर
- ५०१ श्री धनराजजी पनालालजी जैन, जालना
- ५०१ श्री मोलीलालजी रायचन्द्रजी दूगड़, कुर्ला (बम्बई)
- ५०० श्री शक्करबाईजी सुराणा, दुग (म. प्र.)

अन्त में उन सभी महानुभावों का—जिनके अम और सहयोग के परिणामस्वरूप हम इस कार्य में सफल हो सके हैं, हृदय से आभार मानते हैं ।

मन्त्रीगण,

पुस्तक प्रकाशन विभाग,

श्री तिलोक रत्न स्था. जैन धार्मिक
परीक्षा बोर्ड, पाठड़ी, (अहमदनगर)

॥ प्रस्तावना ॥

—►●►—

‘जैनतर्कभाषा’ तकंशास्त्र का भृत्यपूर्ण ग्रंथ है। इसकी रचना उपाध्याय यशोविजयगणीने १८ वीं सती में की थी। उन्होंने जैन एवं जैनेत्र दर्शनों का विधिशूर्वक अध्ययन किया और जैन-दर्शन की बहुत सी समस्याओं का परिलोचन करने में अपनी धोरणता का परिचय दिया है। उदाहरणस्वरूप उन्होंने ज्ञानावरण की जो व्याख्या की है वह वेदांत की मूलविज्ञा और त्रिलोकिक विज्ञान से मिलती है। इसीप्रकार बहुत सी अन्य बातों को भी जैन तकंशास्त्र में प्रविष्ट किया, जो उनकी मौलिक देन है। अगले पृष्ठों में उनके जीवन तथा इस देन का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

जीवन-परिचय

यशोविजय के संबंध में अनेक कथाएँ एवं किंवदंतियाँ प्रचलित थीं। किन्तु जबसे ‘सुजश्वेली भास’ नामक ग्रंथ उपलब्ध हुआ, इस संबंध में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त हो गई है। यह ग्रंथ पुरानी गुजराती में पद्धत्यक है और यशोविजय के समकालीन कांतिविजय गणी की रचना है।

उपाध्यायजी का अन्तम कलोल के निकटस्थ ‘कनोड़’ नामक ग्राम में हुआ था, जो अब भी विद्यमान है। वहाँ नारायण नामके व्यापारी रहते थे, पत्नी का नाम या-सोभागदे। उनके दो पुत्र थे—जसवंत और पद्मसिंह। एकबार पंडितवर्य मुनिश्री नयविजय पाटण के समीपवर्ती ‘कुण्डमेर’ नामक ग्राम से विहार करते हुए ‘कनोड़’ आये। वे अकबरप्रतिबोधक जैनाचार्य श्री हरिविजयसूरि की शिष्यपठारासे संबद्ध थे। उपदेश सुनकर दोनों कुमार उनके साथ हो लिए और वि. सं. १६८८ में पाठण पहुँचकर दीक्षा ले ली। इसी वर्ष श्री विजयदेव सूरि ने उन्हें बड़ी दीक्षा दी। उस समय उनकी आयु कमशः १० और १२ वर्ष के लगभग थी। दीक्षा के उपरांत जसवंत का यशोविजय और पद्मसिंह का पद्मविजय नाम हो गया। उपाध्याय यशोविजय ने अपनी छातीयों में गद्यविजय का सहोदर के रूप में स्मरण किया है।

वि. सं. १६९९ में यशोविजय अहमदाबाद पहुँचे और वहाँ आठ अवधान किए। उनकी प्रतिभा से अभावित होकर स्थानीय धनजी सूरा नामक व्यापारी ने नयविजयजी से अनुरोध किया कि यशोविजय को काशी भेजकर विज्ञान्ययन करना चाहिए। इसके लिए उन्होंने २००० दीनारे खर्च करने का वचन भी दिया और हुंडी लिख दी।

नयविजय यशोविजय को लेकर काशी पहुँचे और वहाँ ३ वर्ष रहे। यशोविजय ने किसी भट्टाचार्य के पास नव्यन्याय का अध्ययन किया। काशी में शास्त्रार्थ भी किया, और विजय के उपलब्ध में ‘न्यायविशारद’ उपाधि प्राप्त की। साधारणतया यह प्रचलित है कि उन्हें ‘न्यायाचार्य’ पदबी मिली थी। किन्तु ‘सुजश्वेलीभास’ में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

काशी के पश्चात् उन्होंने ८ वर्ष तक आगरा में अध्ययन किया। इसके पश्चात् अहमदाबाद पट्टुंचे और उहाँ औरंगजेब के भूबेदार महोबतखाँ के समक्ष १८ अवधान किए। विजयदेवसूरिके शिष्य विजयप्रभसूरिने सं. १७१८ में उन्हें 'वाचक-उपाध्याय' पद्धति प्रदान की। सं. १७४३ में बड़ीबा के निकट 'इमाई' गांव में यशोविजय का स्वर्गदास हुआ, वहाँ उनकी पादुका स्थापित है।

ऊपर बताया जा चुका है कि जैन दार्शनिक साहित्य को उपाध्यायजी की मौलिक एवं अत्यंत महत्त्व-पूर्ण देन है। उन्होंने जो योग्यता प्राप्त की वह साधारणतया अन्य जैन आचार्यों में नहीं मिलती। उन्होंने पूर्वपक्ष के रूप में दूसरे दर्शनों को प्रस्तुत करते समय कहीं खींचतान या तोड़-मरोड़ नहीं की। इससे दो बातें का पता चलता है। पहली बात यह है कि उनका अध्ययन व्यापक एवं वस्तुलक्षी था। इधर-उधर से सुनकर अथवा पारंपरिक आधारों पर किसी बात का खंडन या पर्यालोचन नहीं किया। दूसरी बात यह है कि उनकी हृषिट सभी के प्रति सहानुभूतिपूर्ण एवं समन्वयात्मक थी जो अनेकांत का भूल तर्क है। इस उदार हृषिट का मुख्य कारण था उनका दाढ़ी में जाकर अध्ययन करना और जैनेतर विद्वानों के संगम में आना। दूसरी बात यह है कि उन्होंने बहुतसी दार्शनिक समस्याओं का जो समाधान प्रस्तुत किया है, वह पूर्ववर्ती आचार्यों में नहीं मिलता। उसे प्रत्यक्ष जात होता है कि जैन-इर्णन को समझने के लिए अन्य दर्शनों का मौलिक अध्ययन आवश्यक है।

तत्कालीन स्थिति

उस समय राजस्थान, गुजरात तथा पश्चिमी उत्तरप्रदेश पर मुसलमानों का आतंक था। तर्क, एवं दर्शनशास्त्र का पर्यालोचन बंगल, मिथिला एवं काशी में कुछ विद्वानों के घरों तक सीमित था। अन्यत्र एक और साधारण जनता में भक्तिशाद का प्रसार हो रहा था, दूसरी ओर राजघरानों में शूँगर का। राजस्थान एवं गुजरात के जैनसमाज में दो धाराएँ थीं। एक और मूलिक समाज मंदिरों के निर्माण और उसके आड़म्बरोंमें लगा था। दूसरी ओर स्थानकवासी समाज निवृत्ति एवं व्याप को अत्यधिक महत्त्व दे रहा था। ज्ञान-साधना की ओर दोनों की उपेक्षा थी। ऐसे युग में यशोविजय का आविभवि भृस्थली में सरोवर के समान सिद्ध हुआ। उन्होंने सभीका ध्यान सांप्रदायिक मतभेद से ऊपर उठाकर ज्ञानसाधना की ओर बाहुण्ड किया। तत्त्वजिज्ञासु की सूक्ष्म एवं निष्पक्ष हृषि लेकर इस ओर प्रवृत्त हुए और अनेकांत का सच्चा प्रतिनिधित्व किया। आवरण आते ही प्रकाश अंशकार में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार सत्य सीमाविशेष में आवद्ध होते ही असत्य बन जाता है। धारणाविशेष को असत्य तभी कहा जाता है जब वह विरोधी हृषि का अपलाप करती है। विरोधी का स्वागत करने पर वही सत्य का रूप ले लेती है जैन परिभाषा में विरोधी के अपलाप को 'एकांत' कहते हैं और स्वागत को 'अनेकांत'। यशोविजय ने इस हृषि को हृदय और बुद्धि दोनों भूमिकाओं पर उपस्थित किया है।

रचनाएँ

यशोविजय ने विशाल संख्यक ग्रंथों की रचना की जो एक और उनके प्रखर पांडित्य और दूसरी ओर आवुक हृदय को प्रकट करते हैं। उनकी कृतियाँ चार भाषाओं में हैं—संस्कृत, प्राकृत, गुजराती और हिंदी। में सार्किक थे और कवि भी। उनकी प्रतिभा गद्य और पद्य में समान रूप से प्रकट हुई है।

विषय हृषि से उनकी रचनाएँ व्यापक एवं सूक्ष्म अध्ययन को प्रगट करती हैं। आगम और उके

बतिरिकत अन्य विषयों पर भी उनकी रचनाएँ मिलती हैं। उनमें कर्म, नवतत्त्व, आचार आदि विषयक ग्रंथ आगमिक साहित्य में जिने जाएंगे और प्रमाण, प्रमेय, नय आदि विषयों पर जो ग्रंथ हैं वे तर्क साहित्य में, मंगल, मूकित, आत्मा, पोण आदि विषयों पर जो ग्रंथ हैं, उन्हें साधना-साहित्य में गिना जायगा। व्याकरण, काव्य, छंद अलंकार आदि विषयों पर भी उन्होंने लिखा है।

शैली की हप्टि से उनकी रचनाएँ खंडन, भंडन और समन्वय तीनों प्रकार की हैं। उनका खंडन सुखम् एवं वस्तुसहजी है। साधना-साहित्य में जैन एवं जैनेतर हप्टियों का समन्वय मिलता है, वहाँ भगवद्गीता एवं पातंजलयोगदर्शन का जैन हप्टि के साथ पर्यालोकन किया गया है। उन्होंने दिगंबर आषाढ़ विज्ञानदं-कुत अष्टसहस्री पर भी व्याख्या लिखी है। इसमें उनकी उदार हप्टि का परिचय मिलता है।

भारतीय तर्कशास्त्र में दो ग्रंथ यूगप्रवर्तक नामे जाते हैं। प्रथम श्रीहर्ष का खंडनखंडलाल्य है। इसका सबंध शौकिरवेदांत के साथ है। किन्तु उसमें खंडन की जो शैली है, वह इस बात को प्रकट करती है कि सुखम् हप्टि से देखा जाय तो किसी सिद्धांत की स्थापना नहीं हो सकती। इसी ग्रंथ का सहारा निकार अहंत वेदांत अन्य दर्शनों पर हावी हो गया। वास्तव में देखा जाय तो खंडनखंडलाल्य में जो शैली शून्यवादी मैं है उसका प्रथम आविष्कार प्रसिद्ध बीद्वाचार्य नामार्जुन ने किया था—जो शून्यवाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। उन्होंने इस बात की स्थापना की—‘विश्व के सबंध में बाह्य तथा आभ्यन्तर, जड़ तथा चेतन, नित्य तथा अनित्य, सत्य तथा असत्य समस्त बातें कल्पना मात्र हैं।’ इसी तथ्य का उन्होंने ‘यून्य-शब्द’ हारा प्रतिपादन किया।

खंडनखंडलाल्य ने भी उन्हीं यूक्तियों का आश्रय लिया। उसका प्रभाव सभी दर्शनोंपर पड़ा और उसने यथाधंवादी परपराओं को दबादिया। यशोविजय ने जैन हप्टि से खंडनखंडलाल्य की अलोचना की है। १४ ईं शातांश्च में गंगेश नामक मैथिलविद्रान् ने गत्वान्तिनामैथिनामक ग्रंथ रचा। उसके साथ दार्शनिक जगत् में नव्यन्याय का प्रवेश हुआ। इसने दार्शनिक प्रतिपादन शैली को सर्वथा बदल दिया। उत्तरवतो समस्त दार्शनिक साहित्य पर इसकी छाप है। यशोविजय ने जैनदर्शन का प्रतिपादन भी नव्यन्याय शैली पर किया। इस प्रकार दार्शनिक जगत् को दीनों वर्तीन धाराओं को जैन-साहित्य में प्रचलित किया। जो उनकी अनुपाम देन है।

यशोविजयविरचित ग्रंथों की सूची।

- लघ्यग्रंथ—१) अध्यात्मसत्परीका (स्वोपजटीका) २) अध्यात्मसारः ३) अध्यत्मोपनिषद् ४) अनेकांतव्यवस्था ५) आध्यात्मिकमतदक्षतम् (स्वोपजटीका) ६) आराधकविराघकचतुर्भवी (स्वोपजटीका) ७) अष्टसहस्रीविवरणम् ८) उपदेशरहस्यम् (स्वोपजटीका) ९) ऐदसुतिक्तुविशिष्टिका (स्वोपजटीका) १०) कर्मप्रकृतिटीका ११) गुरुतत्त्वविनिवयः १२) ज्ञानविदु १३) ज्ञानसारः १४) जैनकर्मभाषा १५) देवधर्म-परीक्षा १६) दाविदद्वार्तिका (स्वोपजटीका) १७) धर्मपरीक्षा (स्वोपजटीका) १८) धर्मसंप्रहटिणणम् १९) नयूप्रदीपः (स्वोपजटीका) २०) नयोपदेशः (स्वोपजनयामृतनरंगिणी टीका) २१) नयरहस्यम् २२) निशा-भक्तप्रकारणम् २३) न्यायखंडलाल्यम्-बोरस्तवः स्वोपजटीका २४) न्यायालोकः २५) परमात्मरविशिष्टिका २६) परमज्योतिपञ्चविशिष्टिका २७) पातंजलीयदर्शनविवरणम् २८) प्रतिमाशतकम् (स्वोपजटीका) २९) आषारहस्यम् (स्वोपजटीका) ३०) मार्गपरिच्छुद्धिः ३१) यतिलक्षणसमूच्चयः ३२) योगविजिकाटीका ३३) वैराग्यकल्पलता ३४) योगदीपिका (योगवक्तुन्तः) ३५) सामाचारोपकरणम् (स्वोपजटीका) ३६) स्याद्-वादकल्पलता (सामाचारात्समूच्चयटीका) ३७) स्तोत्रस्तवः ३८) संखेश्वरणाश्वरनाथस्तोत्रम् ३९) समीकापा-स्वनाथस्तोत्रम् ४०) आदिजिनस्तवनम्, विजयप्रभसूरिस्वप्नायः योगीनादर्शनाथस्तोत्रादिः, द्रव्यवर्णविदिः इत्यादि

अपूर्वानुभवशंख — १) अस्पृशद्यतिवादः २) उत्पादव्यवधीव्यसिद्धिटीका ३) कर्मप्रकृतिलब्धवृत्तिः ४) कृपहृष्टान्तविशदीकरणम् ५) ज्ञानार्थविदीकरणम् ६) ज्ञानार्थविदीकरणम् ७) तत्त्वार्थटीका

अलभ्यग्रथ — १) अड्यात्मोपदेशः २) अलंकारचूडामणिटीका ३) अनेकांतप्रदेशः ४) आत्मस्यातिः ५) आकरण्यथः (६) काम्यप्रकाशटीका ७) ज्ञानसारावचूणिः ८) छन्दस्वदामणिः ९) तत्त्वालोकस्वोपज्ञविवरणम् १०) त्रिसूभ्यालोकः ११) द्रव्यालोकस्वेषज्ञविवरणम् १२) न्यायाबिदुः १३) प्रमाणरहस्यम् १४) संज्ञदाराः १५) लघुद्वयः १६) वाददारः १७) वादार्थवः १८) वादरहस्यम् १९) विधिवादः २०) वेदान्तनिषेधः २१) शठप्रकरणम् २२) सिद्धांततकंपरिष्कारः २३) सिद्धांतमंजरीटीका २४) स्पादकादरहस्यम् २५) स्याद्वादमञ्जूषा (स्याद्वादमंजरीटीका)

तर्कशास्त्र का संक्षिप्त परिचय

वामकरण

तर्कशास्त्र का प्राचीन नाम आन्वीक्षिकी है। इसका अर्थ है—वह विद्या जो प्रस्तावित वस्तु का अनु-ईक्षण अर्थात् पर्यालोचन करती है। उपनिषदों में इसके लिए मनन शब्द का प्रयोग होता था। वहाँ आत्मसाक्षात्कार की तीन श्रेणियाँ बताई गई हैं। प्रथम श्रवण है, जिसका अर्थ है—शास्त्र या दूसरे की बात को अच्छी तरह सुनना और समझना। इस श्रेणी में इसी बात पर ध्यान रखा जाता है कि दूसरा क्या कह रहा है। उसके सत्याभय अथवा ओचित्यानोचित्य पर ध्यान नहीं दिया जाता। दूसरी श्रेणी मनन है। इसका अर्थ है—मुनी द्वाई बात पर तर्कसंगत विचार। इसमें व्यक्ति अपनी बुद्धि का उपयोग करता है। तृतीयश्रेणी निदिध्यासन है। इसका अर्थ है—जब कोई बात परीक्षणकी कसीटी पर चरी उतारे तो उसे जीवनमें उतारनेका प्रयत्न।

तर्कशास्त्र को हेतु विद्या भी कहा जाता था। किन्तु आध्यात्मिक परंपराएँ इसे आदर नहीं देती थीं। उनकी यह मान्यता रही है कि आत्मा आदि अस्तीद्वय तत्त्वों का वास्तविक ज्ञान शास्त्र के द्वारा ही हो सकता है। मानव की साधारण बुद्धि उन तक नहीं पहुँचती। अतः तर्क या हेतु को वहीं तक प्रश्न देना चाहिए, जहाँ तक वह शास्त्र का समर्थक है। शास्त्र के विवरीत चलने पर वह उपादेय के स्थान पर है यह हो जाता है। मारतीय प्रमाण शास्त्र में आगम अर्थात् ज्ञान्वीय वातों का भृत्यपूर्ण स्थान है।

ई. पू. द्वितीय शताब्दि में नागार्जुन नामके प्रसिद्ध बीदू—आनार्थ हुए। उन्होंने स्वतंत्र युक्तिवाद के आधार पर शून्यवाद का समर्थन किया। शास्त्रार्थ एवं बीदिकचन्द्रों में सहायक होने पर भी उनका युक्तिवाद जीवन का अंग न बन सका। बीदू धर्म में ही उसकी प्रबल प्रतिक्रिया हुई। जिसके फलस्वरूप भक्तिवाद और योगवाद परंपरा का विकारा हुआ। बादरायण का वायन है कि तर्क कहीं प्रतिष्ठित नहीं होता। उनके 'तक्षिप्रतिष्ठानान्' (ब्रह्मसूत्र २।२ ...) सूत्र की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य ने लिखा है कि एक ताकिक आज जिस बाल को सिद्ध करता है कल दूसरा उसका खंडन कर डालता है। तर्क के आधार पर किसी वस्तु को तभी स्वीकार किया जा सकता है, जब भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों कालों के ताकिक इकट्ठे होकर मिश्य दे, किन्तु यह संभव नहीं है। अतः साधक के लिए एकमात्र शास्त्र का सहारा है।

तर्कशास्त्र का सर्वप्रथम सूक्ष्मशंख महापि गोतम का 'न्यायसूत्र' है। अष्टम शताब्दि में जयन्तभट्टने 'न्यायसञ्ज्ञी' नामक ग्रंथ की रचना की। जैन—आचार्यों ने न्याय की परिभाषा में कहा है—'प्रमाणतयेरर्थपरीक्षणं न्यायः' अर्थात् प्रमाण और तथ के द्वारा किसी वस्तु की परीक्षा करना न्याय है। बीदू आनार्थ धर्मकीति ने अपने तर्कशास्त्रसंश्लिष्टी सूक्ष्मशंख का नाम 'न्यायबिदु' रखा। इससे ज्ञात होता है कि उस समय तर्कशास्त्र के लिए न्यायशब्द प्रचलित था।

चौथा 'दाव्द-प्रमाण' है। सर्वप्रथम इसका प्रयोग बीड़-आचार्य दिल्लीनाथ (४०० ई.) के ग्रंथों में मिलता है। धर्मकीर्ति ने इसी नाम को लेकर प्रमाणवातिकनामक प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की। जैन एवं बैदिक परंपराओं में भी इस नाम का प्रयोग मिलता है।

आन्वीक्षिकी से लेकर अब तक जिन नामों का निर्देश किया गया है उनका संबंध ज्ञान या परीक्षण के उपाय के साथ है। ज्ञेय को लेकर भी कुछ नाम मिलते हैं। इसका प्रारंभ वैशेषिक-सूत्र से होता है, जिसका दुसरा नाम पदार्थ-धर्म-संग्रह है। इसी आधार को लेकर प्रमेयरत्नाबली, प्रमेयकमलमार्गण्ड, प्रमेयरत्नमाला आदि नाम मिलते हैं।

जैन परंपरा में और भी कुछ नाम मिलते हैं। प्रथम है परीक्षा दाव्द को लेकर, जैसे परीक्षामुख। द्वितीय नाम है स्याद्वाद को लेकर जैसे स्याद्वादरत्नाकर, स्याद्वादमञ्जरी इत्यादि। स्याद्वाद जैनदर्शन की आधारशिला है। कुछ नाम अनेकांत को लेकर भी मिलते हैं, जैसे अनेकांतजयपत्राका इत्यादि। अनेकांत जैनतक्षणात्मक की आधारशिला है। विमलदास का सप्तभज्जीतरज्जिणीनामक ग्रंथ सप्तभज्जी की व्याख्या के रूप में है।

जहाँ तक तर्कशब्द का प्रश्न है, जैनपरंपरा में सर्वप्रथम इसका प्रयोग सिद्धसेन ने अपने 'सन्मतितर्कप्रकरण' में किया। १२ वीं शताब्दि में बीड़ आचार्य मोक्षाकर ने तर्कभाषा नामक ग्रंथ की रचना की, जो बीड़ तर्कशब्द का प्रारंभिक ग्रंथ है। १४ वीं शताब्दि में वेशविमिथ ने न्यायदर्शन को लेकर इसी नाम का ग्रंथ रचा। उसके पश्चात् अशंभट्ट ने 'तर्कसंग्रह' की रचना की। संभवतया यशोविजय ने भी इन्हीं से प्रेरणा प्राप्त करके अपने ग्रंथ का नाम 'जैनतर्कभाषा' रखा। उन्होंने अपनी साहित्य-साधना में जिन ग्रंथभांडारों का उपयोग किया था, उनमें भी उपर्युक्त 'तर्कभाषा' नामक ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं, इससे भी प्रस्तुत धारणा की पुष्टि होती है।

'तर्क' शब्द का अर्थ—

जैन आचार्यों ने तर्क की व्याख्या व्याप्तिज्ञान के रूप में की है। व्याप्ति का अर्थ है हेतु और साड़ी का परस्पर संबंध। अहर्न-अहर्न धूआँ है, अग्नि अवश्य होगी। धूआँ व्याप्ति है और अग्नि व्यापक। फलस्वरूप जहाँ धूए का अस्तित्व है, वहाँ अग्नि का अस्तित्व अवश्य होगा। इसी 'संबंध' को व्याप्ति कहा जाता है और इसके ज्ञान को तर्क। जबतक यह ज्ञान नहीं होता, अनुमान नहीं किया जा सकता। अतः तर्क अनुमान का जीवन है। न्यायदर्शन में इसे स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना गया, किन्तु इतने मात्र से उसका महत्व कम नहीं होता। वहाँ भी इसे अनुमान का आधार माना गया है। न्यायदर्शन तर्क को नीचे लिखे अनुसार उपस्थित करता है—

"यदि धूमो वहिनव्याप्तो न स्यात्, वहिनजन्मो न स्यात्" अर्थात् यदि धूआँ अग्नि का कार्य है तो उसे अग्नि का व्याप्ति भी मानना होगा। व्याप्तिता के बिना कार्यता की संभावना नहीं हो सकती। इस प्रकार हम देखते हैं कि तर्क अनुमान की आधारशिला है और अनुमान प्रमाणशास्त्र की। आगम एवं प्रत्यक्ष का प्रामाण्य भी अनुमान के आधार पर सिद्ध किया जाता है। इसीलिए 'तर्क' शब्द को इतना महत्व प्राप्त हो गया।

रचनाशीली—

मोक्षाकार ने अपने तर्कभाषा को तीन परिच्छेदों में विभक्त किया है। प्रस्तुत संघ भी 'प्रमाण, कथा और निषेप' नामक तीन परिच्छेदों में विभक्त है। यह विभाजन घटारक अकलंक के लघीयस्त्रयनामक ग्रंथ का स्मरण दिलाता है। वह भी इसी प्रकार नीन प्रवेशों में विभक्त है। अकलंक की जैन तर्कशास्त्र का संलग्नापक माना जाता है। यशोविजय ने उसके ग्रंथों का पर्यालोचन ही नहीं किया, किन्तु 'अष्टसहस्री-विवरण' नामक ग्रंथ भी रचा, जो अकलंककृत अष्टशाती की टीका अष्टसहस्री का पर्यालोचन है। इससे सहज अनुमान हो सकता है कि यशोविजय के मन में अकलंक के प्रति कितनी अद्वा थी? लघीयस्त्रय के अतिरिक्त जैनतर्कविषयक कोई ग्रंथ नहीं है, जिसका विषय-विभाजन प्रमाण, नय और निषेप के रूप में मिलता है। लघीयस्त्रय की बहुत-सी पंक्तियाँ भी जैनतर्कभाषा में ज्याँ की त्यों मिलती हैं। इन सब आधारों पर कहा जा सकता है कि वही इस संघ-रचना की ग्रंथता का औत है।

आकृतन-कृतियों का प्रभाव—

'जैन-तर्कभाषा' पर नीचे लिखी रचनाओं का प्रभाव स्पष्ट जान पड़ता है।

१) विशेषावश्यक भाष्य—यह विशालकाय ग्रंथ आकृतनसूत्र की टीका है, जिसे बाठसी ई. में जिन-भट्टगणि क्षमाधरण ने रचा। अष्टशताविंश तक आगमिक साहित्य का जो विकास हुआ, प्रस्तुत संघ में उसका विस्तृत प्रतिपादन मिलता है। आगमिक विषयों से संबद्ध उत्तरवर्ती समस्त रचनाएँ इसके प्रभाव को प्रकट करती हैं। विशेषावश्यक भाष्य में गौतम ज्ञान, नय और निषेपों का विस्तृत प्रतिपादन है।

२) प्रमाणनयत्त्वालोक—इसे ११ वीं शताविंश में प्रसिद्ध श्वेतांबर आचार्य वादिदेवसूरि ने रचा, जो श्वेतांबर परंपरा में प्रमाण-विषयक प्रथम मुख्य ग्रंथ है—कुसुमांजलि में उनका विवेचन मिलता है।

३) कुमुमांजलि—यह प्रसिद्ध नैयायिक उद्ययन की रचना है। ईश्वरकृतृत्व आदि जिन विषयों को लेकर वैदिक एवं अर्वदिक परंपराओं में मुख्य भेद है—कुमुमांजलि में उनका विवेचन मिलता है।

४) चितामणि—यह नव्यन्याय का प्रथम ग्रंथ है, जिसे १४ वीं ज्ञाताविंश में गंगेश ने रचा। इसके साथ वार्षिक जगत् में नयेयुग का प्रवेश हुआ।

५) न्यायदीपिका—यह दिगंबर आचार्य धर्मराज की संक्षिप्त रचना है। जो जैनदर्शन में प्रवेश करने वालों के लिए अत्यंत उपयोगी है। प्रतिपादनशीली प्रांजल एवं सारणभित है।

६) लघीयस्त्रय—इसमें विदेश का प्रभाव आधुका है।

७) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक—यह तत्त्वार्थसूत्रपर विद्यानंद की विस्तृत टीका है।

जैन तर्कभाषा में पञ्च ज्ञान और चार निषेपों का जो वर्णन है, उसका आधार विशेषावश्यक भाष्य है। दूसरी ओर प्रमाण और नयों का प्रतिपादन स्याद्वादरत्नाकर के आधार पर है। जैन-तर्कभाषा की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें आगमिक एवं तार्किक दोनों परंपराओं का मुन्द्र सम्बन्ध मिलता है। संक्षिप्त होने पर भी यशोविजय ने किसी सूध्य को अस्पष्ट नहीं रहने दिया।

अहीं तक प्रमाण और नय का प्रश्न है दिगंबर तथा इतेतांबर परंपराओं में भेद नहीं है। किन्तु निषेप की चर्चा दोनों में एक सी नहीं है। अकलंकारुत लघीयस्त्रय तथा उसकी टीका न्यायकुमुदसंदर्भ में निषेपों की चर्चा है, विशेषाधिक आव्य की चर्चा उससे प्रिय है। यशोविजय ने इसी का अनुसरण किया है।

अब हम जैन-तर्कशास्त्र में प्रतिपादित विषयों का संक्षिप्त विवरण कराएंगे ।

विषय-परिचय

तर्कशास्त्र का मुख्य विषय प्रमाण माना जाता है। ज्ञान कैसे होता है, उसे मध्यकृता मिथ्या किन आधारों पर निश्चित किया जाता है, दोनों के कितने प्रकार हैं इत्यादि विषय इसके अंतर्गत हैं। शास्त्रार्थ-युग में प्रत्यक्ष की अपेक्षा अनुमान को अधिक महत्व मिल गया और हेतु-विद्या नवंशास्त्र का मुख्य विषय बन गई। जैन दर्शन में भी इन भव वानों की चर्चा की है।

‘इनके अतिरिक्त कुछ वातें उसकी भौलिक देन हैं। उसने तर्कशास्त्र का विभाजन दो क्षेत्रों में किया है। प्रथम क्षेत्र ज्ञान का है, जहाँ हम यह ज्ञानता चाहते हैं कि वस्तु अपने आप में कैसी है। इसमें भी ज्ञान-ज्ञान बनी रहती है। उदाहरण के रूप में चंद्रमा बहुत बड़ा होने पर भी छोटा-सा दिखाई देता है। न्याय नेदांत आदि दर्शन इसे भ्रम मानते हैं। जैन दर्शन का कथन है कि यदि दूरी आदि अपेक्षाओं को ध्यान में रखा जाय तो यह ज्ञान भ्रम नहीं है। परिस्थिति-विशेष में वह प्रतीति ऐसी ही होगी। इन्हीं अपेक्षाओं को द्रव्य, अंत्र, काल सथा भाव के रूप में प्रकट किया जाता है। हम ऐसे कुछ निर्णय स्वार्थ को लक्ष्य में रखते हैं, जैसे वात्र-मित्र आदि। कुछ सब को, जैसे एक ही व्यक्ति का पिता, तुत, भाई आदि होना। न्यायदर्शन ज्ञान को वस्तुलक्ष्यी मानता है। दूसरी ओर अद्वैतवादी परंपराएँ आत्मलक्ष्यी कहाती हैं। उनका कथन है कि बाह्य वस्तुएँ केवल हमारी कल्पना हैं। जैनदर्शन का कथन है कि प्रत्येक ज्ञान में स्व और पर दोनों सत्त्व मिले रहते हैं। किसी की उपेक्षा करने पर उसमें प्रामाण्य नहीं रहता।

जैन-तर्कशास्त्र का द्वितीय प्रतिपाद्य ‘नय’ है जो उसकी भौलिक देन है। इसका मुख्य मन्बंध व्यवहार के साथ है। हम एक ही वस्तु को स्वार्थ के आधार पर विभिन्न दृष्टियों से देखते हैं। एक ही व्यक्ति को अनुष्ठ, आहार, देवदत्त, अङ्गापक आदि शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है। इस चुनाव का आधार तत्कालिक स्वार्थ होता है। प्राणिशास्त्र में उसे मनुष्य कहा जायगा, जनगणना के समय पुरुष, जातिगणना के समय आहारण और व्यवसाय-गणना के समय अङ्गापक। ये सभी व्याख्याएँ अपनी-अपनी अपेक्षा से सत्य हैं। कोव्यशास्त्र में शब्दकी अभिधा के अतिरिक्त लक्षणा एवं व्यंजना नामक शक्तियों को भी माना जाया है। हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति बैल है। यह उक्ति असत्य नहीं है। यहीं बैल का अर्थ है—बुद्धि-हीम या मूर्ख। जैनदर्शन इन उक्तियों को नैगमन्य में अंतर्भूत करता है, इसी प्रकार सामान्याही तथा विशेषग्राही समस्त दृष्टियों का धिक्काजन नयों के रूप में किया गया है।

तीसरा तत्त्व ‘निषेप’ है। नय न्यूनाधिक मात्रा में अर्थ की अपेक्षा रखता है, किन्तु बहुत से स्थान ऐसे भी होते हैं, जहाँ व्यवहार के माय अर्थ का कोई मन्बंध नहीं होता। उदाहरण के रूप में हम ऐसे व्यक्ति का नाम वाचस्पति रख देते हैं, जो सर्वथा मूर्ख है। यहीं यह प्रश्न होता है कि क्या उसे वाचस्पति कहना असत्य आवश्यक है। पत्थर की भूति को दुर्गा, सरस्वती, विष्णु आदि भेदी-देवताओं के नाम से पुकारा जाता है।

शतरंज के मोहरों को हाथी, घोड़ा, मंत्री आदि कहा जाता है। इसके लिए जैनदर्शन निष्ठेप का सिद्धांत उपस्थित करता है। यह शब्द क्षिप् धातु से बना है, जिसका अर्थ फेंकना है। अर्थ आदि का पर्यालोचन किए विभाव शब्द को वस्तु पर फेंकना 'निष्ठेप' है। नये में व्यवहार की प्रधानता होती है, वह न्यूनाधिक मात्रा में अर्थलक्षणी होता है, किन्तु निष्ठेप में अर्थ का ध्यान नहीं रहता। लृतीय द्रव्यनिष्ठेप भूत अथवा भावी अवस्थाओं को लेकर चलता है और चतुर्थ भावनिष्ठेप वास्तविकता को। निष्ठेप का सिद्धांत भी जैनदर्शन की मौलिक देन है। अगम साहित्य में व्याख्या की परिपाठी में इन्हें निष्ठेपों का जाता है। इत्याहरण के अथ में ज्ञान का प्रतिपादन करते समय पहले नाम, स्थापना और द्रव्य के रूप में इसका विवेचन किया जायगा और इसके पश्चात् भावज्ञान के रूप में असली वस्तु का।

यशोविजय से पहले आचार्यों ने मुख्यतया ज्ञान एवं प्रमाण का विवेचन किया है। किसी-किसी ने अथ पर भी लिखा है, किन्तु निष्ठेप को तर्कशास्त्र में सम्मिलित करना यशोविजय की मौलिक देन है।

हन्द्रघेह शास्त्री



— महामहोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिकृत —

॥ जैन तक्त भाषा ॥

(हिन्दी-अनुवाद-सहित)

१. प्रमाणपरिच्छेदः ।

ऐन्द्रबूद्धनतं नत्वा जिनं तत्त्वार्थदेशिनम् ।
प्रभाणनयनिक्षेपेस्तर्कभाषां तनोम्यहम् ॥

(प्रमाणसामान्यस्य लक्षणनिरूपणम् ।)

१ तत्र—स्वपरब्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्—स्वम् आत्मा ज्ञानस्यैव स्वरूपमित्यर्थः, परः तस्मादन्योऽर्थे इति यावत्, तौ अवस्थति यथास्थितत्वेन निश्चिनोतीत्येवंशीलं स्वपरब्यवसायि । २ अत्र दर्शनेऽतिव्याप्तिवारणाय ज्ञानपदम् । संशयविपर्ययानध्यय-सायेषु तद्वारणाय अवसायिपदम् । परोक्षबुद्धचादिवादिनां भीमांसकांदीनाम्, बाह्या-र्थापिलापिनां ज्ञानाद्यद्वृतवादिनां च मतनिरासाय स्वपरेति स्वरूपविशेषणार्थमुक्ततम् ।

॥३५ नमः सिद्धेभ्यः ॥

मंगलाचरण—इन्द्रोंके समूह द्वारा जिन्हें नमस्कार किया गया हैं और जो तत्त्वार्थका उपदेश करनेवाले हैं, उन जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार करके प्रमाण, नय और निक्षेपका वर्णन करनेवाले ‘तक्तभाषा’ नामक ग्रन्थकी में रचना करता हैं ।

प्रमाणका स्वरूप

१ ‘स्वपरब्यवसायिज्ञानं प्रमाणम्’ अर्थात् स्व और परको निश्चयात्मक रूपसे जाननेवाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है । यहाँ ‘स्व’ का अर्थ है आत्मा अर्थात् ज्ञानका ही स्वरूप और ‘पर’ का अर्थ है ज्ञानसे भिन्न पदार्थ । तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान अपने स्वरूपको और दूसरे घट-पट आदि पदार्थको सम्यक् प्रकारसे-निश्चित रूपसे जानता है, वही प्रमाण कहलाता है ।

२ प्रमाणके लक्षणमें ‘ज्ञान’ पदका समावेश इसलिए किया गया है कि दर्शनमें अतिव्याप्ति

१ ननु यत्तेवं सम्यग्ज्ञानपेत्र प्रमाणमिद्यते तदा किमन्यत् तत्फलं वाच्यमिति चेत्; सत्यम्; स्वार्थव्यवसायितेरेव तत्फलत्वात् ।

२ नन्वेदं प्रमाणे स्वपरब्द्यवसायित्वं न स्यात्, प्रमाणस्य परब्द्यवसायित्वात् फलस्य च स्वब्द्यवसायित्वादिति चेत्; न; प्रमाण-फलयोः कथञ्चिच्च अभेदेन तदुपपत्तेः ।

३ इत्थं चात्मव्यापाररूपमुपयोगेन्द्रियमेव प्रमाणमिति स्थितम्; नह्यव्याख्यूत आत्मा स्पशीदिप्रकाशको भवति, निर्ब्यापिरेण कारकेण क्रियाजननायोगात्, मसृष्टूलिकादिसत्त्विकर्षेण सुषुप्तस्यापि तत्प्रसंगात्मच ।

न हो जाय। संशय, विषय और अनन्द्यवसायमें अतिव्याप्ति निवारण करनेके लिए 'व्यवसाय' पद दिया गया है। ज्ञानको एकान्त परोक्ष माननेवाले मीमांसकोंके मतका निरास करनेके लिए तथा ज्ञानान्तरसे ज्ञानका प्रत्यक्ष माननेवाले योग्यमतका निषेध करनेके लिए 'स्व' शब्द दिया गया है और ज्ञानाद्वैत, ब्रह्माद्वैत आदि अद्वैतवादी मतोंका निषेध करनेके लिए 'पर' शब्दका प्रयोग किया गया है; अर्थात् 'स्व' शब्दका प्रयोग करके यह दिखलाया गया है कि ज्ञान न अज्ञात रहता है और न उसे ज्ञात करनेके लिए दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता ही होती है। ज्ञान अपने आपको आप ही ज्ञान लेता है। इसी प्रकार 'पर' शब्द प्रयुक्त करके यह बतलाया गया है कि जगत्में एक मात्र ज्ञान या ब्रह्म तत्त्व ही नहीं हैं, किन्तु उनसे भिन्न घटपट आदि पदार्थ भी हैं और प्रमाणभूत ज्ञान वही है जो पर-पदार्थोंको भी पदार्थ रूपमें जानता है।

१ शंका—यदि सम्यग्ज्ञानकी ही प्रमाण मान लिया जाय तो प्रमाणका फल क्या होगा?

समाधान—ठीक है, किन्तु स्व और परका व्यवसाय ही प्रमाणका फल है।

२ यदि—परब्द्यवसायको प्रमाणका फल माननेपर प्रमाण स्व-परब्द्यवसायी न ठहरेगा। क्यों कि प्रमाण सिर्फ परब्द्यवसायी होता और प्रमाणका फल स्व-व्यवसायी। ऐसा समझना भी उचित नहीं है; क्यों कि प्रमाण और फलमें कर्यचित् अभेद होनेसे प्रमाणमें स्व-परब्द्यवसाय घटित हो जाता है।

३ इससे सिद्ध हुआ कि आत्मव्यापाररूप उपयोग-इन्द्रिय ही प्रमाण है। आत्मा जब तक उपयोग-व्यापारसे युक्त न हो तब तक स्पर्श आदि विषयोंका प्रकाशक नहीं हो सकता। व्यापारसे रहित कारक (करण) क्रियाको उत्पन्न नहीं कर सकता। उपयोग (व्यापार) के विना जप्ति संभव होती तो सुषुप्त घुरुणको नरम-नरम रही आदिके सञ्चिकर्ष मात्रसे जप्ति हो जाती। किन्तु ऐसा कहीं देखा नहीं जाता, अतः उपयोग-इन्द्रिय ही प्रमाण है।

२ केचित्— “ततोऽर्थग्रहणाकारा शक्तिज्ञनिमिहात्मनः ।

करणत्वेन निदिष्टा न विरुद्धा कथंचन ॥” (तस्यार्थश्लोकवा० १.१.२२)

इति-लब्धीन्द्रियमेवाथंग्रहणज्ञितत्वान्तं ज्ञानान् लक्षितत्वे; उद्देशलम्; उपयोगात्मना करणेन लब्धेः फले व्यवधानात्, शक्तीनां परोक्षत्वाभ्युपगमेन करण-फलज्ञानयोः परोक्षप्रत्यक्षत्वाभ्युपगमे प्राभाकर्मतप्रवेशाद्य । अथ ज्ञानशक्तिरप्यात्मनि स्वाध्ये परिच्छिष्ठे द्रव्यार्थतः प्रत्यक्षेति न दोष इति चेत्; न; द्रव्यद्वारा प्रत्यक्षत्वेन सुखादिवत् स्वसंविदितत्वाद्यवस्थिते; ‘ज्ञानेन घटं जानामि’ इति करणोऽलेखानुपपत्तेऽन्तः; न हि कालशसमाकलनवेलाथां द्रव्यार्थतः प्रत्यक्षणामपि कुशूलकदालादीनामुल्लेखोऽस्तीति ।

१ कोई-कोई आचार्य कहते हैं-कि “पदार्थोंको ग्रहण करनेवाली आत्माकी जक्षित करण है । उसे कथचित् करण (प्रमाण) मानने में कोई कांधा नहीं है ।” ऐसा कहनेवाले पदार्थोंको ग्रहण करनेवाली शक्तिरूप लब्धि-इन्द्रियको प्रमाण कहते हैं । किन्तु यह ठंक नहीं है, क्योंकि लब्धिके फलमें उपयोगरूप करणसे व्यवधान पड़ा जाता है । अर्थात् लब्धि-इन्द्रिय ज्ञप्तिमें गाक्षात् करण नहीं है । क्यों कि लब्धि होनेपर भी उपयोगके बिना ज्ञप्ति नहीं होती । और जो ज्ञप्तिमें साक्षात् करण न हो उसे प्रमाण नहीं कहा जा सकता ।

शक्तियाँ परोक्ष मानी गई हैं । अतः यदि शक्तिरूप करणज्ञानको परोक्ष और फलज्ञान की प्रत्यक्ष मानेंगे तो प्राभाकर मतका प्रवेश हो जायगा । कदाचित् यह कहा जाय कि शक्तिके आधारभूत आत्माका प्रत्यक्ष हो जानेपर द्रव्यतः ज्ञानशक्तिका भी प्रत्यक्ष हो जाता है; तो यह कहना भी योग्य नहीं है । द्रव्यतः प्रत्यक्ष हो जाने पर भी सुख आदिकी तरह ज्ञान स्वसंवेदी नहीं हो सकता । सुखके आधारभूत आत्माका प्रत्यक्ष होनेपर जैसे सुख आदिका द्रव्यतः प्रत्यक्ष हो जाता है, फिर भी सुख स्वसंवेदी नहीं होता, वैसे ही ज्ञान भी स्वसंवेदी नहीं हो सकेगा ।

इसके अतिरिक्त ज्ञानशक्तिको यदि द्रव्यतः प्रत्यक्ष होनेके कारण स्वसंविदित माना जाय तो ‘मैं ज्ञानके द्वारा घटकों जानता हूँ’ इस स्थलपर ज्ञानका उल्लेख (प्रत्यक्ष) नहीं होना चाहिए; जैसे कि घटका प्रत्यक्ष होते समय द्रव्यसे प्रत्यक्ष होनेवाले कुशूल, कपाल-आदि पर्यायोंका उल्लेख नहीं होता ।

अभिप्राय यह है कि यदि उपयोगेन्द्रिय (ज्ञान व्यापार)के बदले लब्धीन्द्रिय (ज्ञानशक्ति) को प्रमाण माना जायगा तो प्रमाणका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा; क्यों कि शक्ति परोक्ष मानी जाती है । कदाचित् यह कहा जाय कि ज्ञानशक्तिके आधारभूत आत्माका प्रत्यक्ष होनेसे ज्ञानशक्ति का भी प्रत्यक्ष मान लिया जाता है; तो इस प्रकार से प्रत्यक्ष होनेपर ज्ञानका उल्लेख नहीं हो सकता; ठीक उसी प्रकार जैसे घटका प्रत्यक्ष होनेपर द्रव्यतः कुशूल, कपाल आदि पर्यायोंका भी प्रत्यक्ष तो होता है, किन्तु घट-ज्ञानमें उनका उल्लेख नहीं होता ।

(प्रत्यक्षं लक्षणित्वा सांब्यवहारिक-पारमार्थिकत्वाभ्यां तद्विभजनम् ।)

१ तद् द्विभेदम्-प्रत्यक्षम्, परोक्षं च । अक्षम्-इन्द्रियं प्रतिगतम्-कार्यत्वेनाभितं प्रत्यक्षम्, अथवाऽऽनुते ज्ञानात्मना सर्वार्थिन् व्याज्ञोतीत्यौणादिकनिषात्मनात् अक्षो जीवः, तं प्रतिगतं प्रत्यक्षम् । न चैवमवध्यादौ मत्यादौ च प्रत्यक्षव्यपदेशो न स्यादिति वाच्यम्; यतो व्युत्पत्तिनिषिद्धिसमेवंतत्, प्रवृत्तिनिषिद्धिं तु एकार्थसमवायिनाऽनेनो-पलभितं स्पष्टतावत्वमिति । स्पष्टता चानुमानादिभ्योऽतिरेकेण विशेषप्रकाशनमित्य-दोषः । अक्षेभ्योऽक्षाद्वा परतो वर्तत इति परोक्षम्, अस्पष्टं ज्ञानमित्यर्थः ।

२. प्रत्यक्षं द्विविधम्-सांब्यवहारिकम्, पारमार्थिकं चेति । समीक्षीनो बाधा-रहितो व्यवहारः प्रवृत्तिनिवृत्तिलोकाभिलापलक्षणः सांब्यवहारः, सत्प्रयोजनकं सांब्य-वहारिकम्-अपारमार्थिकमित्यर्थः, यथा अस्मदादिप्रत्यक्षम् । तद्वौनिद्रियानिनिद्रियव्यवह-हितात्मव्यापारसम्पाद्यत्वात्परमार्थतः परोक्षमेव, धूमात् अग्निज्ञानवद् व्यवधानादि-शेषात् । किञ्च, असिद्धानेकान्तिकविहद्वानुमानाभासवत् संशयदिपर्यथानद्यवसायसम्भ-वात्, सदनुमानवत् संकेतस्मरणादिपूर्वकनिश्चयसम्भवाच्च परमार्थतः परोक्षमेवंतत् ।

प्रत्यक्षं प्रमाणका लक्षण

१ प्रमाणके दो भेद हैं—(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष । अक्षके दो अर्थ हैं—इन्द्रिय और आत्मा । अतएव जो ज्ञान अक्षपर आश्रित हो, इन्द्रियके द्वारा या आत्माके द्वारा हो, वह प्रत्यक्ष कहलाता है ।

शंका—यदि इन्द्रियाश्रित ज्ञानको प्रत्यक्ष माना जाय तो अवधिज्ञान आदि प्रत्यक्ष नहीं कहला सकेंगे, क्योंकि वे इन्द्रियाश्रित नहीं हैं । और यदि आत्माश्रित ज्ञानको प्रत्यक्ष माना जाय तो मतिज्ञान प्रत्यक्ष नहीं ठहरेगा; क्योंकि वह आत्माश्रित नहीं, इन्द्रियाश्रित है ।

समाधान—‘जो ज्ञान अक्षपर आश्रित हो वह प्रत्यक्ष है, यह कथन रिक्त व्युत्पत्तिनिषिद्धिक है । प्रत्यक्षका प्रवृत्तिनिषिद्धि ‘स्पष्टता’ है । अर्थात् जिस ज्ञानमें स्पष्टता हो वही वास्तवमें प्रत्यक्ष है । अनुमान आदिसे प्रकाशित होनेवाले विशेषोंकी अपेक्षा अधिक विशेषोंका प्रकाशन होना स्पष्टता कहलाता है ।

अशोसि या वक्षसे पर जो ज्ञान है वह परोक्ष है. अर्थात् जो ज्ञान अस्पष्ट हो उसे परोक्ष कहते हैं ।

प्रत्यक्षके भेद

२ प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—(१) सांब्यवहारिक प्रत्यक्ष और (२) पारमार्थिक प्रत्यक्ष । बाधा-रहित प्रवृत्तिनिवृत्ति और लोगोंका बोलचालरूप व्यवहार सांब्यवहार कहलाता है । इस सांब्यवहारके लिए जो प्रत्यक्ष माना जाय वह सांब्यवहारिक प्रत्यक्ष है । यह अपारमार्थिक प्रत्यक्ष है ।

(सांव्यवहारिकप्रत्यक्षस्य निलेपणम्, मतिश्रुतयोविवेकश्च ।)

१ एतच्च द्विषिधम्-इन्द्रियजम्, अनिन्द्रियजं च । तत्रेन्द्रियजं चक्षुरादिजनितम्, अनिन्द्रियजं च मनोजनम् । यद्यपीन्द्रियजज्ञानंपि मनो व्यापिष्ठति; तथापि तत्रेन्द्रिय-स्वेच्छासाध्यरणकारणत्वाददोषः । द्वयमपोदं मतिश्रुतभेदाद् द्विधा । तत्रेन्द्रियमनोनिमित्तं श्रुतानुसारि ज्ञानं मतिज्ञानम्, श्रुतानुसारि च श्रुतज्ञानम् । श्रुतानुसारिवं च संकेतविषयपरोपदेशं श्रुतग्रन्थं वाऽनुसूत्य वाच्यवाच्यकभावेन संयोज्य 'घटो घटः' इत्याद्यन्तर्जन्या (जंल्पा) कारणाहित्वम् । २ नन्देदमवग्रह एव मतिज्ञानं स्थानत्वीहादयः, तेषां शब्दोल्लेखसहितत्वेन श्रुतत्वप्रसङ्गादिति चेत्; न; श्रुतनिश्चितानामप्यवग्रहादीनां

क्यों कि हम (लग्नस्थ) लोगोंका प्रत्यक्ष, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष-इन्द्रिय और मनकी सहायतासे, आत्माके व्यापारसे उत्पन्न होता है. अतः वह अनुमानके समान वास्तवमें परोक्ष ही है ।

इन्द्रियजन्य और मनोजन्य ज्ञान वास्तवमें परोक्ष हैं, क्योंकि उनमें संशय, विपर्यय और अनध्यदसाय हो सकते हैं, जैसे असिद्ध विशद् और अनेकान्तिक अनुमान । जैसे शब्द-ज्ञान संकेत की सहायतासे होता है और अनुमान व्याप्तिके स्मरणसे उत्पन्न होता है, अतएव वे परोक्ष हैं, इसी प्रकार सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मनसे व्यवहित आत्मव्यापारकी सहायतासे उत्पन्न होता है, अतएव वह भी परोक्ष है ।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और मतिश्रुत ज्ञान

१ सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—(१) इन्द्रियज और (२) अनिन्द्रियज । चक्षु आदि इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला इन्द्रियज कहलाता है और मनोजनितको अनिन्द्रियज कहते हैं ।

यही यह बात ध्यान रखने योग्य है कि इन्द्रियजनित ज्ञानमें भी मनका व्यापार होता है—मनकी सहायताके बिना वह नहीं हो सकता, तथापि वहीं मन साधारण कारण और इन्द्रिय असाधारण कारण है, अतएव उसे इन्द्रियज कहनेमें कोई दोष नहीं है ।

इन्द्रियज और अनिन्द्रियज—दोनों प्रकारके ज्ञान मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके भेदसे दो-दो प्रकारके हैं । जो ज्ञान इन्द्रिय और मनके निमित्तसे हो किन्तु श्रुतका अनुसरण न करता हो वह मतिज्ञान कहलाता है और जो इन्द्रिय-मनोजन्य होते हुए श्रुतका अनुसरण करे वह श्रुतज्ञान कहलाता है । संकेत करनेवाले परोपदेश अथवा श्रुतग्रन्थका अनुसरण करूँके, वाच्य-वाच्यकभावका संयोजन करके, 'घट घट', इस प्रकारके अन्तर्जल्पके आकारको ग्रहण करनेवाला ज्ञान श्रुतानुसारि या श्रुतका अनुसरण करनेवाला कहलाता है ।

शंका—इस प्रकार व्याख्या करनेसे तो अवग्रह ही मतिज्ञान कहलाएगा, इहा आदि नहीं क्योंकि इहादि शब्दोल्लेखसे सहित होनेके कारण श्रुतज्ञान हो जाएँगे ।

संकेतकाले श्रुतानुसारित्वेऽपि ध्यवहारकाले तदनुसारित्वात्, अभ्यासपाठववशेन श्रुतानुसरणमन्तरेणापि विकल्पपरम्परापूर्वकविद्विधवचनप्रबृत्तिबद्धानात् । अंगोपांगादौ शब्दाद्यवग्रहणे च श्रुतानुसारित्वान्मतित्वमेव, यस्तु तत्र श्रुतानुसारी प्रत्ययस्तत्र श्रुतत्वमेवेत्यवधेयम् ।

(मतिज्ञानस्य अवग्रहादिभेदेन चासुविद्यप्रकटनम् ।)

१ मतिज्ञानम्—अबग्रहेहापायधारणाभेदाच्चतुर्विधम् । अबकृष्टो ग्रहः—अबग्रहः । स द्विविधः—व्यञ्जनावग्रहः, अर्थविग्रहश्च । व्यञ्जयते प्रकटीक्रियतेऽयोऽनेनेति व्यञ्जनम्—कदम्बपुड्डगोलकादिरूपाणामन्तर्जिवृत्तीन्द्रियाणां शब्दादिविषयपरिच्छेदहेतु-शक्तिविज्ञेयलक्षणमुपराणेन्द्रियम् शब्दादिपरिणतद्रव्यनिकुरुम्बम्, तदुभयसम्बन्धश्च । ततो व्यञ्जनेन व्यञ्जनस्यावग्रहो ध्यञ्जनावग्रह इति मध्यमपदलोपी समाप्तः । २ अथ अज्ञानम् अर्थं बधिरादीनां श्रौतशब्दादिसम्बन्धवत् तत्काले ज्ञानानुपलम्भादिति चेत्;

समाधान—श्रुतनिश्चित अवग्रह जादि भी अब स्वेतको भाव दरते हैं, वह श्रुतानुसारि होते हैं । व्यवहार कालमें तो उन्हें श्रुतके अनुसरणकी आवश्यकता नहीं होती । अभ्यासकी अतिपटुताके कारण, श्रुतानुसरण न होते हुए भी केवल विकल्पोंकी परम्पराके आधारसे विद्विध प्रकारके शब्दोंकी प्रबृत्ति देखी जाती है । अंग-उपांग आदि शास्त्रोंका शब्दविषयक अवग्रह आदि श्रुतानुसारि नहीं होता, अतएव वह मतिज्ञान ही है, किन्तु उन शब्दोंके बोधके बाद जो अर्थज्ञान होता है, वह श्रुतानुसारि होनेसे श्रुतज्ञान कहा जाता है ।

मतिज्ञान के भेद

१ मतिज्ञान चार प्रकारका है— अवग्रह, ईहा, अपाय, और धारणा ।

अवग्रहके दो भेद हैं—व्यञ्जनावग्रह और अर्थविग्रह । जिसके द्वारा अर्थं व्यक्त-प्रकट किया जाय वह 'व्यञ्जन' कहलाता है । व्यञ्जनके तीन अर्थ हैं । ?—कदम्बके फूल तथा गोलक आदि अभ्यन्तर निर्वृत्तिरूप इन्द्रियोंकी शब्द आदि विषयोंको ग्रहण करनेकी कारणभूत शक्ति, जिसे उपकरणेन्द्रिय कहते हैं, 'व्यञ्जन' कहलाती है । २ शब्द आदिके रूपमें परिणत पुद्गल द्रव्योंका समूह भी व्यञ्जन कहलाता है । ३) तथा उपकरणेन्द्रिय और विषयका संबंध भी व्यञ्जन कहलाता है । अतएव 'व्यञ्जन' (उपकरणेन्द्रिय) के द्वारा व्यञ्जन (विषय) का ग्रहण होना व्यञ्जनावग्रह है । व्यञ्जनावग्रहमें मध्यमपदलोपी समाप्त है, अर्थात् 'व्यञ्जनव्यञ्जनावग्रह' मेंैं बोधके 'व्यञ्जन' पदका लोप हो गया है ।

२ शंका—जैसे बहिरे अदृशीके कानोंके साथ शब्दका संबंध होनेपर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार व्यञ्जनावग्रहके समय भी ज्ञानोत्पत्ति नहीं होती, अतः व्यञ्जनावग्रह ज्ञान नहीं, अज्ञान है ।

न; ज्ञानोपादावत्वेन तत्र ज्ञानत्वोपचारात्, अन्तेऽर्थाविग्रहरूपज्ञानदर्शनेन तत्कालेऽपि चेष्टाविशेषाद्यनुमेयस्वप्नज्ञानादिसुल्याद्यक्तज्ञानातुमानाद्वा एकते जोऽवयवबत् तस्य तनुत्वेनानुपलक्षणात् ।

(व्यञ्जनावग्रहस्व चातुर्विध्यप्रदर्शने मनश्चक्षुषोरप्राप्यकारित्वसमर्थनम् ।)

१ स च नयन-मनोवर्जन्नियभेदाच्चतुर्धा, नयन-मनसोरप्राप्यकारित्वेन व्यञ्जनावग्रहासिद्धेः, अन्यथा तयोर्ज्ञेयकृतानुग्रहोपघातपात्रत्वे जलानलदर्शन-चिन्तनयोः वलेद-दाहापत्तेः । रवि-चन्द्राद्यवलोकने चक्षुषोऽनुग्रहोपघातौ हृष्टविवेति चेत्; न; प्रथमावलोकनसमये तददर्शनात्, अनवरतावलोकने च प्राप्तेष रविकिरणादिनोपघातस्यास्य), नैसर्गिकसौम्यादिगुणे चन्द्रादौ चावलोकिते उपघाताभावादनुग्रहाभिमानस्योप-

समाधान—व्यञ्जनावग्रह ज्ञानका उपादान है, अतएव वह भी उपकारसे ज्ञान है। इसके अतिरिक्त व्यञ्जनावग्रहके अन्तमें अर्थाविग्रहरूप ज्ञानकी उत्पत्ति देखी जाती है, अतः व्यञ्जनावग्रहके कालमें भी चेष्टाविशेषये अनुमान करने योग्य स्वानज्ञानकी तरह अव्यक्त ज्ञानका अनुमान होता है। तात्पर्य यह है कि जैसे द्वयने समय विभिन्न प्रकारको चेष्टाओंको देखनेसे ज्ञानका अनुमान होता है, उसी प्रकार व्यञ्जनावग्रहके समय भी अव्यक्त ज्ञानका अनुमान होता है। जैसे अग्निका एक शूक्रम कण विद्यमान होनेपर भी अनुभवमें नहीं आता, उसी प्रकार व्यञ्जनावग्रहकालीन ज्ञान भी अति मूढ़ा होनेके कारण मालूम नहीं होता।

व्यञ्जनावग्रह

१ चक्र और मनको छोड़कर शेष चार इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेके कारण व्यञ्जनावग्रह चार प्रकारका है। चक्र और मनके अप्राप्यकारी होनेसे उनसे व्यञ्जनावग्रह नहीं होता। इन दोनोंको यदि प्राप्यकारी माना जाय तो ज्ञेय पदार्थजनित अनुग्रह और उपघातका पात्र भी उन्हें मानना पड़ेगा। ऐसी स्थितिमें जलको देखनेसे औख में गोलाम आ जायगा और अग्निको देखनेसे दाह होगा। इसी प्रकार मनसे जलका चिन्तन करनेपर आद्रिता और अग्निका चिन्तन करनेपर दाह होना चाहिए।

शंका—सूर्य और चन्द्र आदिका अवलोकन करनेपर नेत्रका अनुग्रह और उपघात होता है। अतः चक्रको प्राप्यकारी क्यों न माना जाय?

समाधान—चक्र प्राप्यकारी होती तो सूर्य और चन्द्रमाको देखनेके प्रथम क्षणमें ही उपघात और अनुग्रह होता; किन्तु ऐसा होता नहीं है, अतः वह प्राप्यकारी नहीं है। ही, लगातार देखते रहने से, औखके साथ सूर्यकी किरणोंका संस्पर्श होता है और उससे उपघात होता है। और चन्द्रमा आदि स्वभावतः सौम्य पदार्थोंको देखने पर उपघात न होनेके कारण अनुग्रहका ख्याल मात्र उत्पन्न होता है।

पते: । मृतनष्टादिवस्तुचिन्तने, इष्टसंगमविभवलाभादिचिन्तने च जायमानो दौर्बल्योरः क्षतादि-बदनविकासरोमाऽचोद्गमादिलिङ्गादुपधारानुग्रहौ च लक्षणः, किन्तु स्व-स्तवपरिणतानिष्टेष्टपुद्गलनिचयरूपद्रव्यमनोऽवष्टमभेन हृन्निरुद्धवायुभेदजाभ्यामिथ जीवस्येति न ताभ्यां मनसः प्राप्यकारित्वसिद्धिः । ननु यदि मनो विषयं प्राप्य न परिच्छन्नति तदा कथं प्रसुप्तस्य 'मेवदौ गतं मे मनः' इति प्रत्यय इति चेत्; न; मेवदौ शरीरस्येव मनसो गमनस्वप्नस्थासत्यत्वात्, अन्यथा विवृद्धस्य कुसुमपरिम-लाद्याध्बज्जनितपरिश्रमाद्यनुग्रहोपधातप्रसंगात् । ननु स्वप्नानुभूतजिमस्नात्रदर्शन-समी-हितार्थालाभयोरनुग्रहोपधातौ विवृद्ध (द्व) स्य सतो दृश्येते एवेति चेत्; दृश्येतां स्वप्नविज्ञानकृती तो, स्वप्नविज्ञानकृतं क्रियाफलं तु तृप्त्यादिकं नास्ति, यतो विषय-प्राप्तिरूपा प्राप्यकारिता मनसो युज्येतेति ब्रूमः । क्रियाफलमपि स्वप्ने व्यञ्जनवि-

प्रिय स्वजनकी मृत्यु और इष्ट वस्तुके विनाशके चिन्तनसे जो दुर्बलता, उरक्षत आदि मनका उपधात होता है, अथवा इष्ट वस्तुके लाभ और दैभव आदिकी प्राप्तिका चिन्तन करनेसे बदनविकास और रोमांच हो जाने आदिसे प्रतीत होनेवाला अनुग्रह होता है, वह उपधात और अनुग्रह मनका नहीं होता; किन्तु मनरूपसे परिणत शुभ-अशुभ पुद्गल-पिङ्गल-प्रिंग-प्रिंग द्रव्य मनकी सहायतासे जीवका होता है । जैसे हृदयमें वायुको रक जानेसे जीवका उपधात और ओषधसे जीवका अनुग्रह होता है, उसी प्रकार इष्ट-अनिष्टके चिन्तनसे भी जीवका ही अनुग्रह और उपधात होता है । अतएव इस प्रकारको अनुग्रह और उपधातसे मन प्राप्यकारी सिद्ध नहीं होता ।

शंका— यदि मन विषयको स्पर्श करके नहीं जानता तो सुप्त पुरुषको ऐसा भान क्यों होता है कि— 'मेरा मन मेरु आदि पर गथा' ?

समाधान—जैसे मेरु पर शरीरके जानेका स्वप्न असत्य है उसी प्रकार मनके मेरुगमनका स्वप्न भी असत्य है । शरीरके मेरुगमनका स्वप्न असत्य न हो तो नन्दनवनके गुणोंके सौरभ आदिको कारण अनुग्रह और मार्ग चलनेके परिश्रमके कारण थकावटका अनुभव होना चाहिए ।

शंका— स्वप्नमें अनुभूत जिन भगवान्के अभिषेकको देखनेसे और इष्ट अर्थकी अप्राप्तिसे, जागने पर भी अनुग्रह और उपधात देखा जाता है । इसका क्या कारण है ?

समाधान—वह अनुग्रह और उपधात स्वप्नमें होनेवाले विज्ञानसे होते हैं, स्वप्नसे नहीं, किन्तु स्वप्न-विज्ञानद्वारा की जाने वाली क्रियाका तृप्ति आदि फल नहीं होता है जिससे कि मनकी विषयप्राप्तिरूप प्राप्यकारिता सिद्ध हो सके ।

शंका—स्वप्नमें स्त्रीसंभोग करनेसे वीर्यप्रतरूप क्रिया-फल भी तो देखा जाता है ?

सर्गलक्षणं हृश्यत एवेति चेत्; तत् तीव्राध्यवसायकृतम्, न तु कामिनीनिधुवनक्रिया-कृतमिति को दोषः? ननु स्त्यानधिनिद्रोदये गीतादिकं शृण्वतो व्यञ्जनावग्रहो मनसोऽपि भवतीति चेत्; न; तदा स्वप्नाभिमानिनोऽपि श्रवणाद्यवग्रहेणैवोपपत्तेः। ननु 'च्यवमानो न जानाति' इत्यादिववनात् सर्वस्यापि छब्दस्थोपयोगस्यासङ्घचेय-समयमानत्वात्, प्रतिसमयं च मनोद्रव्याणां ग्रहणात् विषयमसभ्राप्तस्यापि मनसो देहादनिर्गतस्य तस्य च स्वसंशिहितहृदयादिचिन्तनवेलायां कथं व्यञ्जनावग्रहो न भवतीति चेत्; शृणु; ग्रहणं हि मनः, न तु ग्राह्यम्। ग्राह्यवस्तुग्रहणे च व्यञ्जनावग्रहो भवतीति न मनोद्रव्यग्रहणे तदवकाशः; संशिहितहृदयादिदेशग्रहवेलायाभिन्नप्रश्नात्मकाशः; बाह्याथपिक्षवैव प्राप्यकारित्वाप्राप्यकारित्वव्यवस्थानात्, क्षयोपशमपाटवेन मनसः प्रथममर्थनुपलब्धिकालासम्भवाद्वा; श्रोत्रादीन्द्रियव्यापारकाले-

समाधान—स्त्रीसंभोग—संबंधी तीव्र अध्यवसायके कारण ही वीर्यप्रातरूप किया-फल होता, है, रक्तीप्रसंगकी क्रियासे नहीं।

शंका—स्त्यानधि निद्राका उदय होनेपर गीत आदि सुननेवालेको मनसे भी व्यञ्जनावग्रह होता है।

समाधान—यह समझना ठीक नहीं है; क्योंकि स्त्यानधि निद्राके आगम गीत आदि सुननेवालेको श्रोत्र आदि इन्द्रियोंसे ही अवग्रह होता है; भले ही वह उसे रवज्ञ मानता है; किन्तु मनसे उसे व्यञ्जनावग्रह नहीं होता।

शंका—'च्यवमानो न जानाति' इस आगमवाद्यसे छब्दस्थ जीवका उपयोग असंख्यात समयपरिमाण वाला सिद्ध है और उनमेंसे प्रत्येक समयमें मनोद्रव्योंका ग्रहण होता है; (वह द्रव्य तथा उनका ग्रहण संबंध ही व्यञ्जन है) अतः मनसे भी व्यञ्जन सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त मन भले ही विषयको स्पर्श न करे और देहसे बाहर न निकाले, फिर भी अपने साथ संबद्ध हृदय आदिका चिन्तन करते समय व्यञ्जनावग्रह वयों नहीं होगा?

रामाधान—सुनो! मन ग्रहण है अर्थात् ग्राह्यवस्तुको ग्रहण करनेमें कारण है, वह स्वयं ग्राह्य नहीं है। व्यञ्जनावग्रह तो ग्राह्यवस्तुको ग्रहण करने पर होता है। अर्थात् जिन मनोद्रव्योंके ग्रहणसे व्यञ्जनावग्रह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है, वे मनोद्रव्य ग्राह्य न होनेसे उनके ग्रहण के कारण व्यञ्जनावग्रह सिद्ध नहीं होता। अपने साथ सम्बद्ध हृदय आदि प्रदेशोंका ग्रहण करते गमय भी व्यञ्जनावग्रहके लिए अवकाश नहीं; क्योंकि बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा ही प्राप्यकारिता या अप्राप्यकारिताकी व्यवस्था होती है। श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका क्षमोपशम पट्ट नहीं होता, अतएव पहलेपहल वे अर्थकी उपलब्धि नहीं कर पातीं, परन्तु मनका क्षयोपशम पट्ट होने के कारण पहले अर्थकी अनुपलब्धिका काल संभव नहीं है। वह प्रथम समयमें ही

उपि मनोव्यापारस्य व्यञ्जनावग्रहोत्तरमेवाभ्युपगमात्, 'मनुतेर्थानि अथवान्तेऽर्थाः अनेनेति वा मनः' इति मनःशब्दस्यान्वर्थत्वात्, अर्थभाषणं विना भाषाया इच अर्थ-मननं विना मनसोऽप्रवृत्तेः । तदेवं नयनमनसोर्ण व्यञ्जनावग्रह इति स्थितम् ।

(अर्थविग्रहस्य निरूपणम् ।)

१ स्वरूपनामजातिक्रियागुणद्रव्यकल्पनारहितं सामान्यग्रहणम् अर्थविग्रहः । कथं तर्हि 'तेन शब्द इत्यवगृहीतः' इति सूत्रार्थः, तत्र शब्दाद्युल्लेखराहित्याभावादिति चेतः न; 'शब्द' इति वदश्चेव भणनात्, रूपरसादिविशेषव्यावृत्त्यनवधारणपरत्वाद्वा ।

अर्थकी उपलब्धि करनेमें समर्थ हो जाता है; इस कारण मनसे व्यञ्जनावग्रह न होकर सीधा अर्थविग्रह ही होता है । केवल मानसिक अवग्रह के लिए यह बात नहीं है, विन्तु शोत्रादिद्वन्द्वियोंके व्यापारके समय भी मनका व्यापार होता है, किन्तु शोत्रादिजनित व्यञ्जनावग्रहके पश्चात् (अर्थविग्रहके समयमें ही) मनवा व्यापार माना गया है । जो पदार्थोंका मनन करता है या जिसके द्वारा पदार्थोंका मनन किया जाता है, वह मन कहलाता है । इस प्रकार मन शब्द सार्थक होता है । अर्थात् व्यञ्जनावग्रहके समय पदार्थकी उपलब्धि न होनेपर भी मनका व्यापार माना जाय तो मन शब्दकी यह सार्थकता नहीं रहेगी । अतएव जैसे अर्थके भाषणके अभिप्राय यह है कि मन प्रवृत्त होते हो अर्थकी उपलब्धि करता है, और अर्थकी उपलब्धि व्यञ्जनावग्रहमें नहीं, अर्थविग्रहमें प्रारंभ होती है, अतएव मनसे व्यञ्जनावग्रह मानना योग्य नहीं । इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि नयन और मनसे व्यञ्जनावग्रह नहीं होता ।

अर्थविग्रह

१ स्वरूप, नाम, जाति, क्रिया, गुण और द्रव्यकी कल्पना (शब्दोल्लेख-योग्य प्रतीति) से रहित सामान्यकी उपलब्धि अर्थविग्रह है । अर्थात् जिस ज्ञानमें सामान्य मात्राकी प्रतीति हो, पर जिसकी प्रतीति हुई है, उसका स्वरूप क्या है, नाम क्या है, जाति क्या है, क्रिया या गुण क्या है, वह क्या द्रव्य है, ये विशेष-प्रतीति न हों, वह ज्ञान अर्थविग्रह कहलाता है ।

शब्दा—अगर अर्थविग्रहमें शब्दोल्लेख-योग्य प्रतीति न होकर केवल सामान्य ही की प्रतीति होती है, तो नन्दीमूङ्गमें अर्थविग्रहकी प्ररूपणा करते हुए जो कहा गया है कि 'उसने 'शब्द' ऐसा ग्रहण किया (सूत्रपाठ—से जहामामए केइ पुरिसे अच्छतं सद्दं सुषेजजा, 'तेणं सद्देत्ति, उग्महिए' न उण जाणइ के देस सद्दाइति ।') वह कथन कैसे संगत होगा ? क्योंकि यह प्रतीति शब्दोल्लेखसे रहित नहीं है ।

सभाभावान—'उसने शब्द ग्रहण किया' यहीं शब्दकी जो बात कही गई है सो बक्ता (प्रलेपक) ने अपनी ओरसे कही है, जाननेवाला नहीं जानता कि यह 'शब्द' है । अथवा स्वयं

यदि च 'शब्दोऽयम्' इत्यध्यवसायोऽवग्रहे भवेत् तदा शब्दोल्लेखस्यान्तर्मुहूर्तिकर्त्वादर्था-
वप्रहस्येकसामा (म) यिकत्वं भज्येत् । स्यान्मतम्—'शब्दोऽयम्' इति सामान्यविशेष-
ग्रहणमप्यर्थविग्रह इष्यताम्, तदुत्तरम्—'प्रायो भाधुर्यदियः शब्दशब्दधर्मा इह, न सु
शाङ्गधर्माः खरकर्कशत्वादयः' इतीहोत्पत्तेः—इति; मन्त्रम्; अशब्दत्वाचूत्था विशेष-
प्रतिभासेनास्याऽपायत्वात् स्तोकग्रहणस्योत्तरोत्तरभेदापेक्षयाऽद्यवस्थितत्वात् । किञ्च,
'शब्दोऽयम्' इति ज्ञान (न) शब्दगतान्वयधर्मेषु रूपाविव्याख्यातिपर्यालोचनरूपाभीहुं
विनाऽनुपपन्नम्, सा च नागृहीतेऽर्थे सम्भवतीति तद्ग्रहणं अस्मदभ्युपगताध्यविग्रह-
कालात् प्राक् प्रतिपत्तव्यम्, स च व्यञ्जनावग्रहकालोऽर्थपरिशूल्य इति प्रतिक्रियेतत् ।
नन्वत्तरम्—'क एष शब्दः' इति शब्दत्वावान्तरधर्मविषयकेहानिर्देशात् 'शब्दोऽयम्'
इत्याकारं एवावग्रहोऽभ्युपेय इति चेत्; न; 'शब्दः शब्दः' इति भाषकेणव भणनात्

इस आदिसे व्यावृत्ति न होनेके कारण शब्दरूपसे अनिवित शब्द वस्तुको ग्रहण कारता है । अर्थात् शब्दको ग्रहण करनेपर भी ग्रहण करनेवाला यह नहीं जानता कि मैं शब्दको ग्रहण कर रहा हूँ । इस कारण गूत्रमें उत्त कथन किया गया है । अगर 'यह शब्द है' ऐसा अध्य-
वसाय अवग्रहमें मान लिया जाय तो शब्दके उल्लेखमें अन्तर्मुहूर्त लगता है, अतः अर्थावग्रह-
का काल भी अन्तर्मुहूर्त होगा । ऐसी स्थितिमें वह एकसामयिक नहीं रहेगा ।

शब्दः—'यह शब्द है' इस प्रकार के सामान्य-विशेष (अपर सामान्य) के ग्रहण को भी अर्थावग्रह मान लीजिए । उसके बाद 'इसमें शब्द-शब्दके धर्म मधुरता आदि मालूम होते हैं, शुंगशब्दके धर्म स्वरता, कर्कशता, आदि नहीं' इस प्रकारसे इहाकी उत्पत्ति होती है ।

समाधान—ऐसा नहीं । 'यह शब्द है' ऐसा ज्ञान अशब्द (रूप रस आदि) की व्यावृत्ति होनेपर उत्पन्न होता है, अतएव विशेष का ज्ञान होनेसे वह अपाय है । रह गई यह बात कि इसमें स्तोक (थोड़े) विशेष मालूम होते हैं, अतः यह अपाय नहीं है, सो आगे-आगेके ज्ञानों की अपेक्षा पहले-पहले के सभी ज्ञान थोड़े विशेषों का जानते हैं । अतः स्तोकग्रहण अव्यवस्थित-अनियत है । इसके अतिरिक्त शब्दगत अन्वय धर्मोंमें, रूप रस आदिकी व्यावृत्तिकी पर्यालोचनारूप इहाके बिना 'यह शब्द है' इस प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता । इहा, अनवग्रहीत पदार्थमें हो नहीं सकती, अतएव सामान्यका ग्रहण हमारे माने हुए अर्थावग्रहके कालसे पहले ही मानना चाहिए । मगर अर्थावग्रहसे पहलेका काल व्यञ्जनारूपग्रहका ही काल है और वह अर्थ-प्रतीतिसे शून्य होता है ।

शब्दा—नन्दीसूत्रमें, अर्थावग्रहके बाद 'यह कौन-सा शब्द है' इस प्रकारके शब्दत्व-सामान्यके अवान्तर (विशेष) धर्मसंबंधी इहाका निर्देश किया गया है, अतएव इस इहासे पहले 'यह शब्द है' इसी प्रकारका शब्दत्वसामान्यका ग्राही अवग्रह मानना चाहिए ।

अथविग्रहेऽध्यवतशब्दश्वरणस्यैव सूत्रे निर्देशात्, अध्यवतस्थ च सामान्यरूपत्वादना—कारोपयोगरूपस्य चास्य तन्मात्रविषयत्वात् । यदि च व्यञ्जनावग्रह एवाव्यक्तशब्द-ग्रहणमिव्येत तदा सोऽप्यअथविग्रहः स्यात्, अर्थस्य ग्रहणात् ।

१ केचित्तु—‘संकेतादिविकल्पविकल्पस्य जातमात्रस्य बालस्य सामान्यग्रहणम्, परिचितविषयस्य त्वाद्यसमय एव विशेषज्ञानमित्येतद्येक्षया ‘तेन शब्द इत्यवगृहीतः’ इति नानुपपन्नम्’—इत्याहुः; तत्र; एवं हि व्यवततरस्य व्यक्तशब्दज्ञानमतिक्रम्यापि सुबहुविशेषग्रहप्रसङ्गात् । न चेष्टापत्तिः; न पुनर्जानाति क एष शब्दः’ इति सूत्रावयवस्याविशेषणोदत्तत्वात्, प्रकृष्टभत्तेरपि शब्दे धर्मिणमगृहीत्वोत्तरोत्तरसुबहु-घर्मग्रहणानुपपत्तेश्च ।

अन्ये तु—‘आलोचनपूर्वकमथविग्रहमाचक्षते, तत्रालोचनमव्यवतसामान्यशाहि, अथविग्रहस्त्वतरव्यावृत्तवस्तुरूपग्रहाति न सूत्रानुपपत्तिः’—इति; तदसत्;

समाधान—‘शब्द’ ‘शब्द’ ऐसा तो प्रलूपक ही अपनी तरफसे कहता है, अथविग्रहमें तो अव्यक्त (अस्यष्ट) शब्दका श्वरण होना ही सूत्रमें कहा गया है । अव्यक्त वस्तु सामान्यरूप ही होती है और निराकार उपयोग सामान्यको ही विषय करता है, अगर व्यञ्जनावग्रहमें ही अव्यक्त शब्दका ग्रहण मान लिया जाय तो वह भी अथविग्रह हो जायगा. क्योंकि उसने अर्थ (सामान्य) का नहण किया है ।

१ कोई—कोई ऐसा कहते हैं कि जो संकेत आदि विकल्पोंसे रहित है, अर्थात् जिसने शब्द और अर्थका संकेत नहीं समझा है, ऐसा तत्काल जन्मा हुआ बालक सिर्फ सामान्यको ग्रहण करता है, किन्तु जो विषयसे परिचित है, उसे पहले समयमें ही विशेषका ज्ञान हो जाता है । इसी अपेक्षासे उसने ‘शब्द’ ग्रहण किया, यह कहा गया है । अतएव यह कथन अयुक्त नहीं है । उनका यह कहना भी ठीक नहीं, इस तरह तो जो ज्यादा समझदार है—विद्वान् है—यह व्यक्त शब्दज्ञानसे भी आगे बढ़ कर शब्दगत बहुत से विशेषोंको ग्रहण करने लग जायगा । अगर कोई कहे कि यह तो इष्टापत्ति ही है, अर्थात् हम ऐसा मानते ही हैं, सो ठीक नहीं, क्योंकि इस सूत्रमें आगे यह भी कहा गया है कि वह यह नहीं जानता कि किसका क्या यह शब्द है? “सूत्रका यह भाग सभी—नासमझ—समझदार के लिए समानरूपसे ही कहा गया है, सिर्फ नासमझके लिए नहीं । अतएव अति उल्काष्ट बुद्धिवाला भी शब्दधर्मी (सामान्य) को ग्रहण किये विना उत्तरोत्तर बहुत—सो धर्मों को—मधुरता-कर्कशता आदि को नहीं ग्रहण कर सकता ।

कोई—कोई कहते हैं—अथविग्रह आलोचनपूर्वक होता है, इसमें अप्रकट सामान्य (शब्दभास्र) को ग्रहण करनेवाला आलोचन होता है और अन्यव्यावृत्त वस्तु (यथा रूप रस आदिसे भिन्न शब्द) के स्पृहप को अथविग्रह ग्रहण करता है । ऐसी व्याख्या करनेसे नन्दी सूत्रका उक्त कथन ठीक बैठ जाता है ।

यत आलोचनं व्यञ्जनावग्रहात् पूर्वं स्यात्, पश्चाद्गात्, स एव वा ? नाद्यः; अर्थ—व्यञ्जनसम्बन्धं दिना तदयोगात्। न द्वितीयः; व्यञ्जनावग्रहान्त्यसमयेऽथविग्रहस्येवोत्पादादालोचनानवकाशात्। न तृतीयः; व्यञ्जनावग्रहस्येव नामान्तरकरणात्, तस्य चार्थशून्यत्वेनायलिंगनानुपपत्तेः। किञ्च, आलोचनेनेहां विना झटित्येवार्थावग्रहः कथं जन्यताम् ? युभयच्छेहावग्रही पूर्यगसङ्क्षेपयसमयमानौ कथं घटेताम् ? इति विचारणीयम्। १. नन्दवग्रहेऽपि क्षिप्रेतरादिभेदप्रदर्शनादसङ्क्षसमयमानत्वम्, विशेषविषयत्वं चाविग्रहमिति चेष्ट; तत्त्वतस्तेषामपायभेदत्वात्, कारणे कायोपचारमाश्रित्यावग्रहभेदत्वप्रतिपादनात्, अविशेषविषये विशेषविषयत्वस्यावास्तवत्वात्।

२—अथवा अवग्रहो द्विविधः—नैश्चयिकः; व्यावहारिकश्च। आद्यः सामा-

उनका यह कथन सत्य नहीं है। यह अथविग्रहका कारण जो आलोचन आपने कहा, वह व्यञ्जनावग्रहसे पूर्व होता है, पश्चात् होता है अथवा व्यञ्जनावग्रह ही आलोचन है? व्यञ्जनावग्रहसे पहले तो वह हो नहीं सकता क्योंकि अर्थं एवं व्यञ्जनका संबंध होनेसे पहले आलोचन संभव नहीं और अर्थं—व्यञ्जनका संबंध व्यञ्जनावग्रह है। व्यञ्जनावग्रहके बाद आलोचनका होना भी ठीक नहीं, क्योंकि व्यञ्जनावग्रहके अंतिम समयमें अर्थविग्रह उत्पन्न हो जाता है। इन दोनोंके बीचमें आलोचनके लिए कोई अवकाश—समय ही नहीं है। अगर तीसरा पक्ष स्वीकार किया जाय तो व्यञ्जनावग्रहका ही दूसरा नाम आलोचन होगा, किन्तु व्यञ्जनावग्रह अर्थज्ञान—शून्य होता है, अतएव वह अलोचन नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि इहाके बिना झट—से आलोचन अर्थविग्रहको कैसे उपलब्ध कर देगा? कदाचित् कहो कि अवग्रह और इहा, दोनों साथ-साथ हो जाते हैं तो कथन घटित नहीं हो सकता। सोचना चाहिए कि दोनोंका समय असंख्यान—असंख्यात समयका है, तो दोनों एक साथ कैसे हो सकेंगे ?

१. गंका—अवग्रहमें भी क्षिप्रग्राही अक्षिप्रग्राही आदि भेद दिखलाये जाएँगे, अतएव वह माननेमें कोई विरोध नहीं है कि अवग्रहका भी असंख्यात् समय का काल है और वह विशेष को जानता है।

माध्यम—क्षिप्रग्राही, अक्षिप्रग्राही आदि जो अवग्रहके भेद बतलाए जाएँगे, वास्तव में वे अपायके भेद हैं। सिर्फ कारण में कार्य का उपचार करके ही उन्हें अवग्रहका भेद कहा याया है। अर्थात् अपाय कार्य है और अवग्रह तथा इहा उसके कारण्य हैं। कारणमें कार्यका धर्म योग्यतारूप में रहता है, इस अपेक्षासे अवग्रह—इहा में अपायका उपचार (आरोप) कर लिया गया है। इसी कारण से उन्हें अवग्रह का भेद कहा गया है। सामान्य को विषय करनेवाले (अवश्यह) ज्ञान में क्षिप्रता आदि विशेष—विषयता अवास्तविक है पारमार्थिक नहीं।

२. अथवा—अवग्रह दो प्रकार है—नैश्चयिक और व्यावहारिक। नैश्चयिक अवग्रह के बल

न्यमात्रप्राही, द्वितीयश्च विशेषविवरः तदुत्तरमुक्तरोस्तरधर्मकांभारूपेहाप्रवृत्तेः; अन्यथा अवग्रहं विनेहानुत्थानप्रसंगात् अत्रैव क्षिप्रेतराद्विभेदसंगतिः; अत एव चोपर्युपरि ज्ञानप्रवृत्तिरूपसन्तानव्यवहार इति द्रष्टव्यम् ।

(ईहावायधारणानां क्रमशो निरूपणम् ।)

अब गृहीत विशेषाकांक्षणम्—ईहा, व्यतिरेकधर्मनिराकरणपरोऽन्यधर्मघटन—प्रवृत्तो द्वोध इति यावत्, यथा—'श्रोत्रप्राहृत्यादिना प्रायोऽनेन शब्देन भवितव्यम्' 'मधुरत्वादिधर्मयुक्तत्वात् शाङ्कादिना' वा इति । न चेयं संशय एव; तस्येकत्र धर्मिणि द्विरुद्धनानार्थज्ञानरूपस्वत्, अस्याश्च मिलियाभिमुखत्वेन विलक्षणत्वात् ।

सामान्य को ग्रहण करता है । दूसरा व्यावहारिक अवग्रह विशेषणाही है; क्योंकि इस अवग्रह के बाद अग्ने-आगेके विशेष धर्मोंको जाननेकी आकृक्षारूप ईहाकी उत्पत्ति होती है । अवग्रहके बिना ईहाकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; इसी अवग्रहमें क्षिप्र-अक्षिप्र आदि भेद संगत होते हैं । दूसीसे अग्ने-आगेके ज्ञातोंकी प्रवृत्तिरूप सन्तानव्यवहार होता है, ऐसा समझना चाहिये ।

तात्पर्य यह है कि—किसीने नैश्चयिक अवग्रहसे शब्द सामान्यको ग्रहण किया । तत्प्र-इच्छात् उसे ईहा हुई और फिर अपाय हो गया कि, 'यह शब्द ही है ।' इस अपायके पश्चात् उसे उत्तर-विशेष धर्मको जाननेकी फिर ईहा हुई । तथा यह शब्द शास्त्रका है या अंगका है? इस ईहाके बाद फिर अपाय हुआ—'यह शास्त्रका ही शब्द है ।' इस प्रकार अपायके बाद अगले धर्मको जाननेके लिए पुनः ईहा होती है और उसके बाद फिर अपाय होता है । यहाँ जिस अपायके बाद ईहा हो उस अपायको व्यावहारिक अवग्रह माना गया है; क्योंकि ईहा बिना अवग्रहके नहीं होती, अतः ईहासे पहलेका ज्ञान अवग्रह ही है । ही, जिस अपायके बाद ईहा और अपाय न हो, उस अपायको व्यावहारिक अवग्रह नहीं कहा जा सकता । अन्यकार वा कथन है कि वस्तुतः जो ज्ञान अपायरूप है किन्तु उत्तरधर्म-विषयक ईहा का जनक है, वह अवग्रह माना गया है और उसी अवग्रहमें क्षिप्र-अक्षिप्र आदि भेदों की संगति होती है ।

• ईहाका स्थरूप

अवग्रह द्वारा जाने हुए सामान्य पदार्थमें विशेषको जाननेकी आकृक्षा होना ईहा है । अभिप्राय यह है कि जो ज्ञान व्यतिरेक (वस्तुमें न पाये जानेवाले) धर्मका निरंकिरण करनेमें तत्त्वात् हो और अन्यथा (वस्तुमें पाये जानेवाले) धर्मकी घटना करनेमें प्रवृत्त हो, वह ईहा तत्त्वात् होता है । जैसे—'यह श्रोत्रसे ग्रहण होनेके कारण शब्द होना चाहिए' । (यह नैश्चयिक कहलाता है । जैसे—'यह श्रोत्रसे ग्रहण होनेके कारण शब्द होना चाहिए') अथवा 'मधुरता आदि धर्मोंसे ग्रहण होनेके कारण यह शब्दका शब्द होना चाहिए' । (यह व्यावहारिक अश्विग्रहके बाद होनेवाली ईहा का उदाहरण है ।) ईहाज्ञान संशय ही है, सो नहीं; क्योंकि एक धर्ममें परस्पर विरोधी का उदाहरण है ।

१. ईहितस्य विशेषनिषंयोऽवायः; यथा 'शब्द एवायम्', 'शब्द एवायम्' इति वा।

स एव हृष्टमावस्थापन्नो धारणा। सा च विविधा-अविच्छ्युतिः, स्मृतिः, वासना च। सत्रैकार्थोपयोगसातत्यानिवृत्तिः अविच्छ्युतिः। सस्येतार्थोपयोगस्य कालान्तरे 'तदेव' इत्युल्लेखेन समुन्मीलतं स्मृतिः। अपायाहितः स्मृतिहेतुः संस्कारो वासना। द्वयोरद्वयोरद्वयहत्वेन च तिसूणां धारणानां धारणात्वेनोपग्रहान्न विभागव्याघातः।

केचित्तु-अपनयनमपायः, धरणं च धारणेति व्युत्पत्त्यर्थमात्रानुसारिणः— 'असद्गूतार्थविशेषव्यतिरेकावधारणमपायः, सद्गूतार्थविशेषव्यधारणं च धारणा'— इत्याहुः; तत्त्वः; कवचित्तदन्यव्यतिरेकपरामर्शात्, व्यवचिदन्वयधर्मसमनुगमात्, कवचि-

नाना धर्मोका बोध होना संशय है। संशय विशेषकी ओर जूका हुवा नहीं होता, ईहाज्ञान विशेषकी ओर अभिमुख होता है। इस कारण यह संशयसे भिन्न है।

अपायका स्वरूप

१. इहा द्वारा जाने हुए पदार्थमें विशेषका निश्चय हो जाना अपाय है। जैसे 'यह शब्द ही है'। अथवा 'यह शब्दका ही शब्द है'।

धारणाका स्वरूप

वह अपाय ही हृष्टम अवस्थाको प्राप्त होकर धारणा कहलाता है। धारणा तीन प्रकारकी है (१) अविच्छ्युति (२) स्मृति और (३) वासना। किसी एक पदार्थ—संबंधी उपयोगकी सततताका बना रहना-उपयोगका जारी रहना अविच्छ्युति है। एक बार उपयोगके हृष्ट जानेपर फिर कालान्तरमें 'वह' इस प्रकारसे उसी पदार्थका उपयोग उत्पन्न होना, अर्थात् पहले जाने हुए पदार्थका पुनः याद हो जाना स्मृति है। अपायज्ञानसे 'प्राप्त होनेवाला और स्मृतिका जनक संस्कार वासना है।

पूर्वोक्त दोनों अवग्रहों—व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रहका सामान्य अवग्रहमें तथा तीनों प्रकारकी धारणाओंका एक सामान्य धारणमें ही संग्रह हो जाता है, अतएव मतिज्ञानके पहले बतलाये चार भेदोंमें कोई वाधा नहीं आती। अपाय और धारणा व्यब्दोंके केवल व्युत्पत्ति-अर्थका अनुसरण करनेवाले कोई-कोई कहते हैं-अपनयन करना (हृष्टाना) अपाय है, अर्थात् वस्तुमें जो धर्म नहीं पाये जाते उनमें निषेधका निश्चय करना अपाय है। और धारण करना धारणा है, अर्थात् वस्तुमें जो विद्यमान धर्म हैं उनका निश्चय करना धारणा है। जैसे—'यह रूप, रस या अन्य कुछ नहीं है,' यह निश्चय हो जाना अपाय, और 'शब्द ही है' यह निश्चय होता धारणा है।

यह मान्यता ठीक नहीं। अपाय कहों अविद्यमान धर्मोंके निषेधका निश्चय करता हुआ, कहों विद्यमान धर्मके सद्भावका निश्चय करता हुआ और कहों दोनों प्रकारसे होता

स्वोभान्यामपि भवतोऽपायस्य निश्चयंकरूपेण भेदामावात्, अन्यथा समृद्धेराधिक्येन
मते: पञ्चभेदत्वप्रसंगात् । अथ नास्त्येव भवदभिमता धारणेति भेदचतुष्टया (य)
व्याघातः; तथाहि उपयोगेपरमे कानाम धारणा ? उपयोगसात्त्वलक्षणा अविच्यु-
तिश्चापायान्नातिरिच्यते । या च घटाद्युपयोगोपरमे संख्येयमसंख्येयं वा कालं वासना-
उभयामागते, या त्वं 'तदेव' हन्तिलक्षणा समृद्धिः या मत्यंशरूपा धारणा न भवति
मत्युपयोगस्य प्रागेवोपरतत्वात्, कालान्तरे जायमानोपयोगेऽप्यन्वयमुख्यां धारणायां
समृद्ध्यन्तर्भावादिति चेत्; न; अपायप्रवृत्त्यनन्तरं वदच्छिदन्तर्मुहूर्तं यावदपायधारा-
प्रवृत्तिदर्शनात् अविच्युतेः, पूर्वपिरदर्शनानुसन्धानस्य 'तदेवेदम्' इति समृद्ध्याल्यस्य
प्राच्यापायपरिणामस्य, तदाधायकसंस्कारलक्षणायां वासनायाऽच अपायास्यधिकत्वात् ।

नन्वविच्युतिस्मृतिलक्षणौ ज्ञानभेदौ गृहीतयाहित्वान्न प्रमाणम्; संस्का-
रश्च किं स्मृतिज्ञानावरणक्षयोपशमो वा, तज्ज्ञानजननशक्तिर्बा, तद्वस्तुविकल्पो

है । किन्तु सभी जगह उसका स्वरूप अर्थात् निश्चय एक ही है, अतएव उसमें भेद नहीं किया
जा सकता । ऐसा त माना जाय और अपाय एवं धारणाकी व्युत्पत्ति-परक व्याख्या मानी जाय
तो स्मृतिज्ञानका समावेश उसमें नहीं होगा । इस स्थिति में मतिज्ञानके पाँच भेद मानने पड़ेंगे ।

शंका— आपकी मानी हुई धारणा अलग नहीं है, अतएव मतिज्ञानके चार भेदोंमें कोई
बात नहीं आती । वह इस प्रकार—उपयोगकी समाप्तिके बाद फिर धारणा कैसी ? उपयोग-
का चालू रहनारूप अविच्युति अपायरूप है । घटादिका उपयोग समाप्त होनेपर भी संख्यात
या असंख्यात काल तक रहनेवाली वासना और 'वह' इस आकारसे उत्पन्न होनेवाली स्मृति
भी मतिज्ञानका अंशरूप धारणा नहीं कहला सकती, क्योंकि इनसे पहले ही मतिज्ञानका
उपयोग—व्यापार—समाप्त हो चुकता है । कालान्तरमें जो उपयोग उत्पन्न होता है, वह अन्वय-
मुखी धारणामें अन्तर्गत हो जाता है ।

समाधान— अपायज्ञानकी प्रवृत्तिके पश्चात् कहीं-कहीं अन्तर्मुहूर्तं तक अपायकी धारा
जारी रहती देखी जाती है, अतएव वह धारा अपायसे अलग है । पूर्वकालके और वर्तमान
कालके दर्शनका जोड़ रूप 'यह वही है' इस प्रकार स्मरण-प्रत्यभिज्ञान—नामसे प्रसिद्ध और
पूर्वकालीन अपायका फलरूप ज्ञान भी अपायसे अलग है और उस ज्ञानकी धारणा करनेवाली
संस्कारज्ञानस्वरूप वासना भी अपायसे अलग है ।

शंका— अविच्युति और स्मृति-ये दोनों ज्ञान गृहीतयाही (पहले जाने हुए पदार्थको
ही जाननेवाले) हैं अतएव प्रमाण नहीं । रह गया संस्कार—वासना, सो वह संस्कार क्या है ?
स्मृतिज्ञानावरणका क्षयोपक्षम, या स्मृतिज्ञानको उत्पन्न करनेकी शक्ति अथवा उस वस्तुका

वेति त्रयो गतिः ? तत्र-आद्यपक्षद्वयमयुक्तम्; ज्ञानरूपत्वाभावात् तद्द्वेदानां चेह विचार्यत्वात् । तृतीयपक्षोऽप्ययुक्त एव; संख्येयमसंख्येयं चाकालं वासनाया इष्ट-त्वात्, एतावन्तं च कालं वस्तुविकल्पायोगादिति न कापि धारणा धट्ट इति चेत्; न; स्पष्टस्पष्टतरस्पष्टतमभिन्नधर्मक्वासनाजनकत्वेन अन्यान्यस्तुग्राहित्वादविच्युतेः प्रागतनुभूतवस्त्वेकत्वग्राहित्वाच्च स्मृतेः अगृहीतग्राहित्वात्, स्मृतिज्ञानावरणकर्मक्षयो-पशमरूपायास्तद्विज्ञानजननशक्तिरूपायाइच वासनायाः स्वयमज्ञानरूपत्वेऽपि कारणे कार्योपचारेण ज्ञानभेदाभिधानाविरोधादिति ।

एते चावग्रहादयो नोत्क्रमव्यतिक्रमाभ्यां न्यूनत्वेन चोत्पद्यते, ज्ञेयस्येत्थमेव विकल्प ? संरकारके संबंधमें यही तीन विकल्प हो सकते हैं । मगर इन तीनमें से पहलेके दो पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि क्षयोपक्षम तथा शक्ति स्वयं ज्ञानरूप नहीं हैं और यहीं ज्ञानके भेदोंका विचार किया जा रहा है । संरकारको वस्तुविकल्प मानना भी संगत नहीं, क्योंकि संरकार संख्यात-असंख्यात काल तक बना रहता है, मगर वस्तुविकल्प इतने लम्बे समय तक उहर नहीं सकता । इस प्रकार विचार करनेपर धारणानामक कोई ज्ञान सिद्ध ही नहीं होता । अतएव भविज्ञानके तीन भेद स्वीकार करने चाहिए, चार नहीं ।

परापृष्ठ- अविच्युतिज्ञानको गृहीतग्राही कहना उचित नहीं । अविच्युतिका पहला क्षण अगर स्पष्ट वासनाको उत्पन्न करता है तो दूसरा क्षण स्पष्टतर वासनाका जनक है और तीसरा क्षण स्पष्टतम वासनाको पैदा करता है । इस कारण पहले क्षणकी अविच्युति प्रथम समयद्वाली वस्तुको जानती है, दूसरे समयकी अविच्युति द्वितीय क्षण-विशिष्ट वस्तुको ग्रहण करती है । अभिप्राय यह कि प्रत्येक क्षणमें वस्तुका पर्याय पलटता रहता है और उस पलटे हुए नये-नये पर्यायको ही अविच्युतिका एक-एक क्षण जानता है । इस कारण अविच्युति मृहीतग्राही नहीं है । स्मृति पूर्वपर्याय और वर्तमानपर्यायमें रहने वाले 'एकत्वको' विषय करती है और वह एकत्व पहले किसी ज्ञानसे गृहीत नहीं होता, इस कारण स्मरण भी गृहीतग्राही नहीं है । रही वासना, सो वह स्मृतिज्ञानावरणका क्षयोपक्षम है एवं स्मृतिज्ञानको उत्पन्न करनेकी शक्तिरूप है । यद्यपि वह स्वयं ज्ञानरूप नहीं है, फिर भी कारणमें कार्यका उपचार करके उसे ज्ञानका भेद मानलेनेमें कोई विरोध नहीं आता । अर्थात् वासना स्मृति-ज्ञानका कारण है, अतः उसे भी उपचारसे ज्ञान कहा है ।

अवग्रह आदि का क्रम

अवग्रह आदि पूर्वोक्त ज्ञान न तो उत्क्रम (उलटे क्रम से) होते हैं और न व्यतिक्रम से (क्रम को भंग करके) होते हैं और न यही होता है कि पहले के बिना हुए ही आगेका ज्ञान हो जाय । क्योंकि ज्ञेयका स्वभाव ही ऐसा है जिससे ज्ञान इसी प्रकार उत्पन्न होता है ।

ज्ञानजननस्वाभाव्यात् बवच्चिदभ्यस्तेऽपायमात्रस्य हृष्टवासने विषये स्मृतिमात्रस्य
बोपलक्षणेऽप्युत्पलपत्रशतव्यतिभेद इव सौऽम्यादवग्रहादिकमानुपलक्षणात् । तदेवम्
अर्थविश्वादयो मनइन्द्रियः पोढा भिन्नमाना व्यञ्जनावग्रहस्तुभेदैः सहाष्टाविश्विर्म-
तिभेदा भवन्ति । अथवा बहु-बहुविधि-क्षिप्रा-अनिश्चित-निश्चित-ध्रुवैः सप्रतिपक्षेद्वादि-
शभिभेदेभिन्नानामेतेषां षट्क्षिप्तदधिकानि शीणि शतानि शब्दन्ति । तद्वावद्यत्वं भेदा
विषयावेक्षणः; तथाहि-कश्चित् नानाशब्दसमूहमाकणितं बहुं जानाति-'एतावन्तोऽन्न-
शंखग्रहादा एतावन्तश्च पट्टादिशब्दाः' इति पृथग्भिन्नजातीयं क्षयोपशमविशेषात्
परिच्छिन्ननस्तीत्यर्थः । अन्यस्तवल्पक्षयोपशमत्वात् तत्समानदेशोऽप्यबहुम् । अपरस्तु
क्षयोपशमविश्विष्यात् बहुविधम्, एककस्यापि शंखादिशब्दस्य स्निग्धत्वादिबहुवर्मा-
न्वितत्वेनाप्याकलनात् । परस्तवबहुविधम्, स्निग्धत्वादिस्तवल्पधर्मान्वितत्वेनाकलनात् ।

किसी-किसी परिचित विषय में यिर्क अपाय ही सीधा ही गया जान पड़ता है और जिस विषय में हृष्ट वासना होती है उसमें सीधी स्मृति हुई जान पड़ती है, फिर भी ऐसा होता नहीं है । जैसे कमल के सी पत्ते, एकके बाद दूसरा और दूसरेके बाद तीसरा, इस प्रकार कमसे ही छेदे जाते हैं, उसी प्रकार अवग्रह, ईहा, अपाय और आरणा भी कमसे ही होते हैं; यिर्क जल्दी-जल्दी ही जाने के कारण उनका क्रम मालूम नहीं होता ।

भेद-प्रभेद

अथविश्वह, ईहा, अपाय और आरणामेंसे प्रत्येक ज्ञान मन और वाच्च इदियोसे-छोड़ निमित्तोंसे उत्पन्न होता है, अतः सबके मिलकर चौवीस भेद होते हैं । इनमें चार प्रकार का व्यञ्जनावग्रह (पहले बतलाया जा चुका है कि व्यञ्जनावग्रह चक्र और मनमें नहीं होता; उसके चार ही भेद हैं ।) मिला देने से मतिज्ञान के अटुईस भेद हो जाते हैं ।

अथवा- बहु, बहुविधि, क्षिप्र, अनिश्चित, निश्चित और ध्रुव तथा इनके उलटे अबहु, अबहुविधि, अक्षिप्र, निश्चित, अनिश्चित और अध्रुव, इन बारह भेदों के साथ पूर्वोक्त २८ भेदों का गुणाकार करनेसे मतिज्ञानके तीत सौ छत्तीस भेद होते हैं ।

अटुईस भेद कारणकी अपेक्षासे हैं और बहु आदि बारह भेद विषयकी अपेक्षासे हैं ।

बारह भेदोंका स्पष्टीकरण इस भाँति है-(१) कोई सुने हुए नाना शब्दसमूहोंमें से शब्दोपशमकी विशेषताके कारण पृथक्-पृथक् भिन्नजातीय बहु-बहुतको जानता है, जैसे, इनमें शंखके इतने शब्द हैं और पट्टह आदिके इतने शब्द हैं । (२) दूसरा कोई व्यक्तिक्षयोः पश्चभकी अल्पताके कारण उसी जगहपर स्थित ही कर भी इसप्रकार नहीं जान पाता वह अबहुको जानता है । (३) कोई तीसरा व्यक्ति क्षयोपशमकी विचित्रताके कारण एक-एक वाच्च आदिके शब्दको भी स्निग्धता-आदि बहुतसे धर्मों-सहित जानता है । (४) कोई इससे विपरीत-अबहुविध जानता है, अथात् स्निग्धता आदि स्वरुप धर्मोंसे युक्त जानता है ।

अन्यस्तु द्विग्रन्, शीघ्रमेव परिच्छेदात् । इतरस्त्वक्षिप्रम्, चिरविमर्शनाकलनात् । परस्त्वनिश्चितम्, लिङं विना स्वरूपत एव परिच्छेदात् । अपरस्तु निश्चितम्, लिङ-निश्चयाऽऽकलनात् । [कश्चित्तु निश्चितम्, विहृद्वधमनिलिगितत्वेनावगते: । इतरस्त्व-निश्चितम्, विहृद्वधमाद्विकृततयावगमात् ।] अन्यो ध्रुवम् बहूवादिरूपेणावगतस्थ सर्वदेव तथा द्वोधात् । अन्यस्त्वध्रुवम्, कदाचिद्विहृवादिरूपेण कदाचित्स्वबहूवादिरूपेण-वगमादिति । उक्ता मतिभेदाः ।

(श्रुतज्ञानं चतुर्दशाधा विभज्य तत्त्वरूपणम् ।)

श्रुतभेदा उच्यन्ते—श्रुतम् अक्षर-सञ्ज्ञ-सम्यक्-सादि-सपर्यवसित-गमिकाऽऽग्नि-प्रविष्टभेदैः सप्रतिपक्षेऽचतुर्दशविधम् । तत्राक्षरं त्रिविधम्-सञ्ज्ञा-व्यञ्जन-लघिभेदात् । सञ्ज्ञाक्षरं बहुविधलिपिभेदम्, व्यञ्जनाक्षरं भाष्यमाणमकारादि-एते चोपन्नारात् श्रुते । लघ्यक्षरं तु इन्द्रियमनोनिमित्तः श्रुतोपयोगः, तदावरणक्षयोपशमो वा । एतच्च परो-पदेशं विनापि नासम्भाव्यम्, अनाकलितोपदेशानामपि मुग्धानां गवादीनां च शब्द-

(५) कोई खिप्र-शीघ्र ही जान लेता है (६) कोई अक्षिप्र देर तक सोच-विचार करके जानता है । (७) कोई अनिश्चितं को अर्थात् लिंगके विना स्वरूपसे ही जान लेता है । (८) कोई लिंग के आधारसे जानता है [(९) कोई निश्चितको-विहृद्वधमोसे रहित वस्तुको जानता है । (१०) कोई अनिश्चित को अर्थात् विहृद्वधमोसे युक्त रूपमें जानता है ।] (११) कोई ध्रुव रूपसे अर्थात् बहु अदि रूपसे जाने हुए पदार्थको सर्वदा बहु आदि रूपसे ही जानता है (१२) कोई अध्रुव रूपसे अर्थात् कभी बहुरूपसे तो कभी अबहुरूपसे जानता है । मंत्रिं भेद कहे जानुके ।

अब श्रुतज्ञान के भेद कहे जाते हैं । श्रुतज्ञान चौदह प्रकार का है—(१) अक्षरश्रुत (२) अनक्षरश्रुत (३) संज्ञश्रुत (४) असंज्ञश्रुत (५) सम्यक्श्रुत (६) मिथ्याश्रुत (७) सादिश्रुत (८) अनादिश्रुत (९) सपर्यवसितश्रुत (१०) अपर्यवसितश्रुत (११) गमिकश्रुत (१२) अगमिकश्रुत (१३) अंगप्रविष्टश्रुत (१४) अनंगप्रविष्ट-अंगबाह्यश्रुत ।

अक्षर तीन प्रकार के हैं—(१) संज्ञाक्षर (२) व्यञ्जनाक्षर और (३) लघिः-अक्षर । नाना प्रकार की लिपियों के अक्षर संज्ञाक्षर कहलाते हैं और बोले जाने वाले 'अ' आदि, अक्षर व्यञ्जनाक्षर कहलाते हैं । यह दोनों प्रकार के अक्षर ज्ञानरूप न होने के कारण उपचार से ही श्रुत कहलाते हैं । इन्द्रिय और मन के निमित्त से ही नेबाला श्रुतज्ञान का उपयोग अथवा श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम लघ्यधर्म है । श्रुत यह परोपदेश के विना शीघ्र संज्ञाक्षर और व्यञ्जनाक्षर के लिए ही समझनी चाहिए, लघ्यधर्मश्रुत क्षयोपशम आदि से परोपदेश के विना भी हो सकता है; क्यों कि जिन्हें उपदेश का लाभ नहीं हुआ ऐसे मुख्य

अवणे तदाभिमुख्यदर्शनात्, एकेन्द्रियाणामध्यव्यवताक्षरलाभाच्च । अनक्षरश्रुतमुछु-
वासादि, तस्थापि भावश्रुतहेतुत्वात्, ततोऽपि 'सशोकोऽयम्' इत्यादिज्ञानाविभवित् ।
अथवा श्रुतोपयुक्तस्य सर्वात्मनैवोपयोगात् सर्वस्यैव व्यापारस्य श्रुतरूपत्वेऽपि अत्रैव
शास्त्रज्ञलोकप्रसिद्धा रुद्धिः । समनस्कस्य श्रुतं सञ्ज्ञश्रुतम् । तद्विपरीतमसञ्ज्ञश्रुतम् ।
सम्यक्श्रुतम् अंगानंगप्रविष्टम्, लौकिकं तु मिथ्याश्रुतम् । स्वामित्वचिन्तायां तु
भजना-सम्यग्हृष्टिपरिगृहीतं मिथ्याश्रुतमपि सम्यक्श्रुतमेव वित्यभाषित्वादिना
यथास्थानं तदर्थविनियोगात्, विपर्ययान्मिथ्याहृष्टिपरिगृहीतं च सम्यक्श्रुतमपि मि-
थ्याश्रुतमेवेति । सादि-द्रव्यत एकं पुरुषमाश्रित्य, क्षेत्रतश्च भरतैरावते, कालत-
उत्सपिष्यवसपिष्यौ, भावतश्च तत्तज्ञापकप्रयत्नादिकम् । अनादि-द्रव्यतो नानापुरुषा-
नाश्रित्य, क्षेत्रतो महाविदेहान्, कालतो नोउत्सपिष्यवसपिष्णीलक्षणम्, भावतश्च

मनुष्य और गौ गादि पशु भी अपना नाम आदि शब्द सुनकर उसकी ओर अभिमुख होते
देखे जाते हैं । यही नहीं, एकेन्द्रिय जीवोंको भी अव्यक्त अक्षरश्रुत का लाभ होता है ।

(२) अनक्षरश्रुत-उच्छ्वास आदि कहलाता है । यह भी भावश्रुतका कारण है, क्योंकि
'यह सशोक है' इत्यादि प्रकार का ज्ञान उससे उत्पन्न होता है । अथवा श्रुतज्ञान में उपयुक्त
आत्मा का सर्वात्मना-सम्पूर्ण रूपसे ही व्यापार होता है, अतः उसका समस्त व्यापार श्रुत-
स्वरूप ही है: फिर भी खास अभिप्रायसे होनेवाले उच्छ्वास, निःश्वास, खांसी छींक
आदि को ही शास्त्रज्ञों की रुद्धि के अनुसार अनक्षरश्रुत कहते हैं ।

(३). संज्ञी (समनस्क) जीवोंका श्रुतज्ञान संज्ञश्रुत कहलाता है । (४) असंज्ञी जीवोंके श्रुत
को असंज्ञश्रुत कहते हैं । (५) अंगप्रविष्ट (आचारांग आदि बाहर ह अंग) और बाह्य (दशवेका-
लिक आदि) श्रुत सम्यक्श्रुत हैं । (६) लौकिक आगम-अनाप्तप्रणीत शास्त्र-मिथ्याश्रुत हैं ।

किन्तु सम्यक्श्रुत और मिथ्याश्रुतके स्वामियोंका विचार किया जाय तो दोनोंमें
भजना-विकल्प है । वह इस प्रकार-सम्यग्हृष्टि द्वारा गृहीत मिथ्याश्रुत भी सम्यक्श्रुत ही है,
क्यों कि सम्यक्श्रुत मिथ्याश्रुत को पढ़कर उसे मिथ्यावादी आदि रूपसे यथास्थान ठीक-
ठीक योजित कर लेता है । इसके विपरीत मिथ्या-हृष्टि द्वारा ग्रहण किया हुआ सम्यक्श्रुत
भी मिथ्याश्रुत बन जाता है, क्योंकि वह यथार्थ रूप से उसकी योजना नहीं करता ।

(७) द्रव्यसे एक पुरुषकी अपेक्षा, क्षेत्रसे भरत-ऐरावतकी अपेक्षा, कालसे उत्सपिष्णी-
अवसर्पिणीकी अपेक्षा और भावसे अमुक-अमुक प्ररूपके प्रयत्न-चेष्टा आदिकी अपेक्षासे श्रुत
आदि होता है ।

(८) द्रव्यके नाना (सभी) पुरुषोंकी अपेक्षा, क्षेत्रसे महाविदेहोंकी अपेक्षा, कालसे
नोउत्सपिष्णी-अवसर्पिणीकी अपेक्षा और भावसे सामन्य क्षयोपक्षमकी अपेक्षासे श्रुत अनादि है:
सदैव ही बना रहता है ।

सामान्यतः क्षयोपशममिति । एवं सपर्यवसितापर्यवसितभेदादपि भाव्यो । गमिकं सहशपाठं प्रायो हृष्टिवादगतम् । अगमिकमसहशपाठं प्रायः कालिकशुतगतम् । अंग-प्रविष्टं गणधरकृतम् । अनंगप्रविष्टं तु स्थविरकृतमिति । तदेवं सप्रभेदं सांब्यवहारिकं मतिश्रुतलक्षणं प्रत्यक्षं निरूपितम् ।

(पारमार्थिकं प्रत्यक्षं त्रिधा विभज्य प्रथममवधेऽनिरूपणम् ।)

स्वोत्पत्तादात्मव्यापारमात्रापेक्षं पारमार्थिकम् । तत् त्रिविधम्—अवधिमनः—पर्यय-केवलभेदात् । सकलरूपिद्वयविषयकजातीयम् आत्ममात्रापेक्षं ज्ञानमवधिज्ञानम् । तच्च षोडा-अनुगामिवर्धमानप्रतिपातीतरभेदात् । तत्रोत्पत्तिक्षेत्रादन्यत्राप्यनुवर्तमान-मानुगामिकम्, भास्करप्रकाशवत्, यथा भास्करप्रकाशः प्राच्यामाविर्भूतः प्रतीचीम-नुसरत्यपि तत्रादकाशमुद्योतयति, तथैतदप्येकत्रोत्पन्नमन्यत्र गच्छतोऽपि पुंसो विषय-मवभासयतीति । उत्पत्तिक्षेत्रे एव विषयावभासकमनुगामिकम्, प्रश्नादेशपुरुषजा-

(१०) जिस द्वय क्षेत्र काल भाव-संबंधी अपेक्षासे श्रुत सादि है' उसी अपेक्षासे सपर्यवसित और जिस अपेक्षासे अनादि है, उसी अपेक्षासे अपर्यवसित समझना चाहिए । (११) जिसमें एक सरीखे पाठ हों वह गमिकश्रुत कहलाता है । एक-से पाठ प्रायः हृष्टिवादमें है । (१२) जिसमें समान पाठ न हों, वह अगमिकश्रुत है जैसे कालिकश्रुतके पाठ । (१३) गणधरों द्वारा रचित श्रुत अंगप्रविष्ट कहलाता है । (१४) स्थविरों द्वारा कृत श्रुत अनंगप्रविष्ट है । इस प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान रूप सांब्यवहारिक प्रत्यक्षका भेद-प्रभेदों—सहित निरूपण किया जा चुका ।

(पारमार्थिक प्रत्यक्ष)

जो ज्ञान अपनी उत्पत्तिमें सिर्फ आत्माके ही व्यापारकी अपेक्षा रखता है, मन और इन्द्रियोंकी सहायता जिसमें अपेक्षित नहीं है, वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष है । पारमार्थिक प्रत्यक्ष तीन तरह का है— (१) अवधिज्ञान (२) मनःपर्ययज्ञान और (३) केवलज्ञान ।

१.—सकल रूपी द्रव्योंको जाननेवाला और सिर्फ आत्मासे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है । वह छह प्रकारका है— (१) अनुगामी (२) अननुगामी (३) वर्द्धमान (४) हीयमान (५) प्रतिपाति (६) अप्रतिपाति । (१) सूर्यके प्रकाशके समान अपनी उत्पत्तिके क्षेत्रसे दूसरी जगह भी साथ-साथ जानेवाला अवधिज्ञान आनुगामिक कहलाता है; जैसे सूर्यका प्रकाश पूर्व दिशामें प्रकट होता है, फिर भी पश्चिम दिशामें आ जाता है और वहाँके क्षेत्रको प्रकाशित करता है; उसी प्रकार आनुगामिक अवधिज्ञान जिस जगहपर रहे पुरुषको उत्पन्न होता है, वह पुरुष उससे भिन्न दूसरे स्थानपर चला जाय तो भी विषयका बोध कराता है । (२) अपने उत्पत्तिस्थान पर ही विषयका बोध करानेवाला ज्ञान अननु-

नवत्, यथा प्रश्नादेशः क्वचिदेव स्थाने संवादयितुं शब्दनोति पृच्छयमानमर्थम्, तथेदभपि अधिकृत एव स्थाने विषयसूद्योतयितुमलमिति । उत्पत्तिक्षेत्रात्क्लेण विषय-व्याप्तिमवगाहमानं वर्धमानम्, अधरोत्तरारणनिर्मयनोत्पन्नोपात्तशुष्कोपचीयमाना-धीयमानेन्धनराइयगित्वा, बद्र अस्ति रथयनादुत्तरातः स्त्र युज्वित्वानलाभाद्विद्धि-भुपागच्छति एवं परमशुभाध्यवसायलाभादिभपि पूर्वोत्पन्नं वर्धते इति । उत्पत्तिक्षेत्रादेशाया क्रमेणालयोभवद्विषयं हीयमानम्, परिच्छिष्ठेन्धनोपादानसन्तत्ययिशिखावत्, यथा अपनीतेन्धनान्निज्याला परिहीयते तथा इदमपीति । उत्पत्त्यनन्तरं निर्मूलनश्वरं प्रतिपाति, जलतरंग वत्, यथा जलतरंग उत्पन्नमात्र एव निर्मूलं विलीयते तथा इदमपि । आ-केवलप्राप्तेः आ-मरणाद्वा अवतिष्ठमानम् अप्रतिपाति, वेदवत्, यथा पुरुषवेदादिरापुरुषादिपर्यायं तिष्ठति तथा इदमपीति ।

(२—मनःपर्यवज्ञानस्य निरूपणम् ।)

मनोमात्रसाक्षात्कारि मनःपर्यवज्ञानम् । मनःपर्यायानिर्दं साक्षात्परिच्छेत्तुमलम्,

गामिक कहलाता है, जैसे प्रश्नादेश पुरुषका ज्ञान । जैसे प्रश्नादेश पुरुष किसी खास स्थानपर ही पूछे हुए प्रश्नका सही उत्तर देनेमें समर्थ होता है, दूसरे स्थानपर सही उत्तर नहीं दे सकता, उसी प्रकार जो अवधिज्ञान, ज्ञानोत्पत्तिके स्थानपर ही रहे हुए पुरुषको विषयका ज्ञान कराता है अन्यथा चले जानेपर नहीं, वह अनानुगमिक कहलाता है । (३) जो ज्ञान अपने उत्पत्तिक्षेत्रसे, क्रमशः पदार्थोंको जानता हुआ बढ़ता चला जाता है, वह वर्धमान अवधिज्ञान है । जैसे ऊपर-नीचे रखे हुए अरणिनामक दो काढ़ोंको रगड़नेसे उत्पन्न हुई अग्नि, सूखा हैं विन मिल जाने पर बढ़ती ही चली जाती है । तात्पर्य यह है कि जैसे प्रथत्नसे उत्पन्न हुई थोड़ी-सी अग्नि इधरका संयोग मिलनेसे बढ़ती जाती, उसी प्रकार जो अवधिज्ञान परम शुभ अध्यवसायका निमित्त पाकर, जितनी मात्रामें उत्पन्न हुआ था उससे अधिक बढ़ता जाता है, वह वर्धनात अवधिज्ञान कहलाता है । (४) जलती हुई अग्निमेंसे इधर निकाल लिया जाय तो वह हीन-कम-होती जाती है, इसी प्रकार जो अवधिज्ञान उत्पत्तिके समयमें जितने क्षेत्र (क्षेत्रस्य पदार्थों) को प्रकाशित कर रहा था, वादमें क्रमसे उसका क्षेत्र कम होता चला जाय, वह हीयमान कहलाता है । (५) जैसे जलमें उत्पन्न हुई तरंग बादमें समूल विलीन हो जाती है, उसी प्रकार जो अवधिज्ञान उत्पत्तिके पश्चात् समूल नष्ट हो जाय, वह प्रतिपाति कहलाता है । (६) जैसे पुरुषवेद (पुरुषका निहन) जब तक पुरुषपर्याय रहती है, तब तक बना रहता है, उसी प्रकारसे अवधिज्ञान केवल ज्ञानकी प्राप्ति तक या भूत्युपर्यन्त बना रहता है, वह अप्रतिपाती कहलाता है ।

२.—सिर्फ मनका साक्षात्कार करनेवाला ज्ञान मनःपर्यय या मनःपर्यंव कहलाता है ।

बाह्यानर्थान् पुनस्तदन्यथाऽनुपपत्त्याऽनुमानेनैव परिच्छिन्नतीति द्रष्टव्यम् । तद् द्विविधम्—ऋजुमति-विपुलमतिभेदात् । ऋज्ज्वली सामान्यग्राहिणी मतिः ऋजुमतिः । सामान्यशब्दोऽत्र विपुलमत्यपेक्षाऽल्पविशेषपरः, अन्यथा सामान्यमात्रग्राहित्वे मनः—पर्यायदर्शनप्रसंगात् । विपुला विशेषग्राहिणी मतिविपुलमतिः । तत्र ऋजुमत्या घटा-विमात्रमनेन चिन्तितमिति जायते, विपुलमत्या तु पर्यायशतोपेतं तत् परिच्छिद्यते इति । एते च द्वे ज्ञाने विकलविषयत्वाऽद्विकलप्रत्यक्षे परिभाष्यते ।

(३—केवलज्ञानस्य निरूपणम् ।)

निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारि केवलज्ञानम् । अत एवंतत्सकलप्रत्यक्षम् । तच्चावरणक्षयस्य हेतोरेक्ष्याऽद्वेदरहितम् । आवरणं चात्र कर्मेव, स्वविषयेऽप्रवृत्तिमतोऽ-

मनःपर्यायज्ञान मनकी पर्यायोंको—चिन्तनीय पदार्थके निमिससे उत्तम होनेवाली आकृतियों—अवस्थाओं-परिणामोंको ही प्रत्यक्ष रूपसे जाननेमें समर्थ होता है । मनमें जिन बाह्य पदार्थोंका चिन्तन किया जाता है, वे पदार्थ अनुमानसे ही जाने जाते हैं । मनःपर्यायज्ञानी ऐसा अनुमान करता है कि ‘अमुक पदार्थका चिन्तन किये विना मनकी अमुक प्रकारकी आकृति नहीं हो सकती ।’ इसप्रकारकी अन्यथाऽनुपपत्तिसे वह बाह्य घट-घट आदि पदार्थोंको भी जान लेता है ।

मनःपर्यायज्ञान दो प्रकारका है—ऋजुमति और विपुलमति । ऋजु अर्थात् सामान्यको ग्रहण करनेवाली मति ऋजुमति है । यहाँ सामान्यका अर्थ है विपुलमतिकी अपेक्षा थोड़े विशेष धर्म । अगर ऋजुमति विशेष धर्मोंको न जाने और सिर्फ सामान्यको ही जाने तो वह मनः-पर्याय दर्शन हो जायगा ।

विपुल अर्थात् बहुतसे विशेषोंको जानने वाली मति विपुलमति कहलाती है । ऋजुमति से इतना ही मालूम होता है कि इसने घटका चिन्तन किया है, विपुलमतिसे वही घट सैकड़ों पर्यायों-सहित मालूम होता है । अभिप्राय यह है कि ऋजुमति मन की स्थूल पर्यायोंको प्रत्यक्ष करता है, अतएव उनसे बाह्य पदार्थोंकी भी थोड़ी सी ही विशेषताओंको समझ पाता है । विपुलमति मनकी पर्यायोंकी सूझमतर विशेषताओं को भी प्रत्यक्ष करता है, अतएव वह बाह्य पदार्थों की भी सैकड़ों विशेषताओं का अनुमान कर लेता है ।

अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान विकल-विषयक अर्थात् समस्त पदार्थोंको न जान कर सिर्फ रूपी पदार्थोंको ही जानते हैं, अतएव इन्हें विकलप्रत्यक्ष कहते हैं ।

३—समस्त द्रव्यों और समस्त पर्यायोंको प्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञान केवलज्ञान है । यह ज्ञान समस्त पदार्थोंको जानता है । अतः यह सकल प्रत्यक्ष कहलाता है, केवलज्ञानका कारण आवरण का क्षयरूप एक ही है, अतएव केवल ज्ञानके भेद नहीं हैं—वह एक ही प्रकारका है ।

यहाँ आवरण कर्म ही समझना चाहिए । अपने विषय में प्रवृत्ति न करनेवाला हम लोगों

स्मद्वादिज्ञानस्य सावरणत्वात्, असर्वविषयत्वे व्याप्तिज्ञानाभावप्रसंगात्, सावरणत्वा—भावेऽस्पष्टत्वानुपपत्तेश्च । आवरणस्य च कर्मणो विरोधिना सम्यग्दर्शनादिना विना—शात् सिद्धचति कैवल्यम् ।

‘योगजधर्मानुगृहीतमनोजन्यमेवेदमस्तु’ इति केचित्; तत्र; धर्मानुगृहीते—नापि मनसा पञ्चेन्द्रियार्थज्ञानबद्ध्य जनयितुमशक्यत्वात् ।

‘कवलभोजिनः कैवल्यं न घटते’ इति दिक्षुपटः; तत्र; आहारपर्याप्त्यसा—तवेदनीयोदयादिप्रसूतया कवलभुक्त्या कैवल्याविरोधात्, धातिकर्मणामेव तद्विरोधित्वात् । दग्धरज्जुस्थानीयात्ततो न तद्रूपत्तिरिति चेत्; नन्वेवं ताद्वशादायुषो भवोपग्रहोऽपि न स्यात् । किञ्च, औदारिकशारीरस्थितिः कथं कवलभुवित विना भगवतः स्यात् । अनन्तवीर्यत्वेन तां विना तदुपपत्तौ छद्यस्थावस्थायामव्यपरिमितबलत्वधृष्ट—णाद् भूक्त्यभावः स्यादित्यन्यत्र विस्तरः । उक्तं प्रत्यक्षाम् ।

का जान आवरण-युक्त है । कदाचित् कहा जाय कि समस्त पदार्थोंका जान हो ही नहीं सकता, सो ठीक नहीं, ऐसा होता तो व्याप्तिके ज्ञान (तर्क) का अभाव हो जाता । हमारा ज्ञान अगर सावरण न होता तो उसमें अस्पष्टता न होती । ज्ञान की अस्पष्टता उसके आवरणयुक्त होनेका प्रमाण है । वह आवरण, सम्यग्दर्शन आदि विरोधी कारणोंसे नष्ट हो जाता है । इस प्रकार केवलज्ञान की सिद्धि होती है ।

कोई कहते हैं—योग अर्थात् समाधिसे उत्पन्न होनेवाले धर्म (विशिष्ट शक्ति) से युक्त मनसे ही सकल प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है । यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि जैसे योगज शक्तिसे सम्पन्न भी पाँच इन्द्रियोंसे सकलप्रत्यक्ष नहीं उत्पन्न हो सकता, उसी प्रकार मनसे भी नहीं उत्पन्न हो सकता ।

दिग्म्बरों का कथन है कि कवलाहारीको केवलज्ञान नहीं हो सकता; सो भी ठीक नहीं । आहारपर्याप्ति नामकर्म और असातावेदनीय कर्मके उदय आदि कारणोंसे होनेवाले कवलाहार का केवलज्ञानके साथ विरोध नहीं है । केवलज्ञानके विरोधी तो धातिकर्म ही हैं । अगर कहा जाय कि आहारपर्याप्ति और असातावेदनीय आदि कर्म केवलीमें जली हुई रसोंके समान अकार्यकारी होते हैं, अतएव उनके उदयसे कवलाहार नहीं हो सकता; तो इसी प्रकार आयुकर्म भी अकार्यकारी होगा तो फिर केवलीकी भवस्थिति भी नहीं होगी ! इसके अतिरिक्त, कवलाहारके विना भगवान्के औदारिक शरीरकी स्थिति कैसे हो सकती है ? अगर कहो कि अहंत भगवान् में अनन्त वीर्य होता है, इस कारण कवलाहारके विना भी उनका शरीर ठिका रहता है, तो छद्यस्थ अवस्थामें भी उनमें अपरिमित बल सुना जाता है । अतः उसी समग्र कवलाहारका अभाव हो जाना चाहिए । इस विषयमें अन्यत्र विस्तारसे विचार किया गया है । इस प्रकार प्रत्यक्षका लक्षण कहा गया ।

(परोक्षं लक्षयित्वा पञ्चश्च विभज्य च स्मृतेनिरूपणम् ।)

अथ परोक्षसुध्यते—अस्पष्टं परोक्षम् । तच्च स्मरण-प्रत्यभिज्ञान-तर्का-अनुमान-
ज्ञानमभेदतः पञ्चप्रकारम् । अनुभवभावजन्यं ज्ञानं स्मरणम्, यथा तत् तीर्थकरबिम्बम् ।
न चेदमप्रमाणम्, प्रत्यक्षादिवत् अविसंवादकत्वात् । अतीततत्त्वांशे वर्तमानत्वविषय-
त्वादप्रमाणमिदमिति चेत्; न; सर्वत्र विशेषणे विशेष्यकालभानानियमात् । अनुभव-
प्रमानत्यपारसन्ध्यादकामात्मभिति चेत्; न; अनुमितेरपि व्याप्तिज्ञानादिप्रमात्वपार-
तन्त्रयेणाप्रमात्वप्रसंगात् । अनुमितेरत्पत्ती परापेक्षा, विषयपरिच्छेदे तु स्वातन्त्र्यमिति
चेत्; न; स्मृतेरप्युत्पत्तावेवानुभवसंव्ययेकत्वात्, स्वविषयपरिच्छेदे तु स्वातन्त्र्यात् ।

परोक्षप्रमाण

अस्पष्ट ज्ञान परोक्ष कहलाता है । उसके पाँच भेद हैं—१) स्मरण २) प्रत्यभिज्ञान
३) तर्क ४) अनुमान और ५) आगम ।

१ सिर्फ अनुभवसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान स्मरण है, यथा—वह तीर्थकरकी प्रतिमा !

स्मरण अप्रमाण नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष आदिकी भाँति अविसंवादक है । अर्थात्
जैसे प्रत्यक्ष प्रमाणसे किसी पदार्थको जानकर प्रवृत्ति करनेसे सफलता मिलती है, उसी प्रकार
स्मरणसे जानकर प्रवृत्ति करने पर भी सफलता मिलती है ।

यांका—अतीतकालीन तत्-ता अंशमें वर्तमानताका बोध करनेसे स्मरण अप्रमाण है
अर्थात् स्मरणका विषय तो भूतकालीन पदार्थ होता है, उसमें मालूम ऐसा पड़ता है जैसे कि
वह वर्तमान में हो । इस कारण वह प्रमाण नहीं ।

समाधान—यह नियम नहीं कि सभी जगह विशेषणमें विशेष्यका काल भी मालूम हो ।
स्मरणमें वस्तुकी अतीतकालता और वर्तमानकालीनता दोनों स्वर्तत्र मालूम होती है, अतः
स्मरण अप्रमाण नहीं ।

शङ्का—स्मरण अनुभवके अधीन है, अर्थात् जिस वस्तुका पहले अनुभव न हुआ हो
उसका स्मरण भी नहीं होता, इस प्रकार पराधीन होनेसे स्मरण प्रमाण नहीं है ।

समाधान—इस प्रकार पराधीन होनेसे स्मरणको अप्रमाण कहोगे तो अनुमान भी
अप्रमाण हो जायगा, क्योंकि अनुमान भी व्याप्तिज्ञान (तर्क) आदिके अधीन है । जब तक तक्से
व्याप्ति न जान ली जाय तब तक अनुमानकी उत्पत्ति नहीं होती, अब एवं वह तर्कके अधीन है ।

यांका—अनुमान केवल उत्पत्ति में ही पराधीन है; अपने विषयको जानने में तो स्वतंत्र
है । अर्थात् तर्क सामान्यरूपसे अग्नि और धूमकी व्याप्तिको जानता है; पर अनुमान पर्वतनिष्ठ
अग्नि-विशेषको जानता है, अतः दोनोंका विषय अलग २ है ।

समाधान—इसी प्रकार स्मरण भी उत्पत्ति में ही अनुभवकी अपेक्षा रखता है; अपने
विषयको जानने में तो वह भी स्वतंत्र ही है ।

अनुभवविषयीकृतभावादभासिन्याः स्मृतेविषयपरिच्छेदेऽपि न स्वातन्त्र्यमिति चेत् ;
तर्हि व्याप्तिज्ञानादिविषयोकृतानर्थान् परिच्छन्दत्वा अनुशिलेदणि प्राप्ताण्यं दूरत् एव ।
नैयत्येनाऽभात एवार्थोऽनुभित्या विषयीक्रियत इति चेत् ; तर्हि तत्त्वाऽभात एवार्थः
स्मृत्या विषयीक्रियत इति तुल्यमिति न किञ्चिद्देतत् ।

(२-प्रत्यभिज्ञानस्य निरूपणम् ।)

अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं सङ्कलनात्मकं ज्ञानं प्रत्य-
भिज्ञानम् । यथा 'तज्जातीय एवायं गोपिण्डः' 'गोसदृशो गवयः' 'स एवायं जिनदत्तः'
'स एवानेनार्थः कथ्यते' 'गोविलक्षणो महिष' 'इदं तस्माद् दूरम्' इदं तस्मात् समी-
पम् 'इदं तस्मात् प्रांशु हस्वं वा' इत्यादि ।

तत्त्वेदन्तारूपस्पष्टात्पष्टाकारभेदान्वैकं प्रत्यभिज्ञानस्वरूपमस्तीति शाक्यः; तस्म;

शंका—अनुभव द्वारा जाने हुए पदार्थको जाननेवाली स्मृति विषयके बोधमें भी
स्वतंत्र नहीं है ।

समाधान—तो तर्क आदि द्वारा जाने हुए पदार्थोंको जाननेवाला अनुमान भी प्रमाण
कोटिमें नहीं आयगा ।

शंका—(तर्कद्वारा) नियतरूपमें (यथा—पर्वतनिष्ठ अग्निके रूपमें) नहीं जाना
गया पदार्थ ही अनुमान-द्वारा जाना जाता है, अतः वह स्वतंत्र है ।

समाधान—तो फिर 'तत् (वह)' इस रूपमें नहीं जाना गया अर्थ स्मृति-द्वारा जाना
जाता है, अतएव स्मरण भी अनुमान के ही समान स्वतंत्र है ।

२ अनुभव और स्मरण से उत्पन्न होने वाला, 'तिर्यक्सामान्य और ऋक्ष्वत्ता सामान्य
आदिको जानने वाला, जोड़लग ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाता है । जैसे—यह गाय उसी जाति की
है, गवय गौ के समान होता है, यह वही जिनदत्त है, यह भी उसी अर्थको कहता है, यह
भैंस गांव के लिलक्षण है, यह उससे दूर है, यह उससे समीप है, यह उससे बड़ा है, यह उससे
छोटा है; इत्यादि ।

प्रत्यभिज्ञानके विषयमें बोहु कहते हैं—प्रत्यभिज्ञानमें एक नहीं—दो आकार प्रतीत होते
हैं । एक 'तत् (वह)' ऐसा आकार और दूसरा 'इदम् (यह)' ऐसा आकार । 'इन दोनों'
आकारों में 'तत्' यह आवार अस्पष्ट है और 'इदम्' आकार स्पष्ट है । इस प्रकारके
आकार—भैंदके कारण प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप एक नहीं है । उनका यह कथन ठीक नहीं ।

१—एक कालमें अनेक व्यक्तियोंमें रहने वाली समस्तता । २—अनेक कालोंमें एक व्यक्तिमें पायी
जाने वाली समानता ।

आकारभेदेऽपि चित्रज्ञानवदेकस्य तस्यानुभूयमानत्वात्, स्वसामग्रोप्रभवस्यास्य चस्तुतोऽस्पष्टैकरूपत्वाच्च, इवन्तोल्लेखस्य प्रत्यभिज्ञानिबन्धनत्वात् । विषयाभावाभै-दमस्तीति चेत्; न; पूर्वपिरक्तिर्वत्येकद्वयस्य विशिष्टस्थैतद्विषयत्वात् । अत एव 'अगृहोतासंसर्गकमनुभवस्मृतिरूपं ज्ञानद्वयमेवेतद्' इति निरस्तम्; इत्थं सति विशिष्टज्ञानमात्रोच्छेदप्तते । तथापि 'अक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् प्रत्यक्षरूपमे-वेदं युक्तम्' इति केचित्; तन्न; साक्षादक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वस्यासिद्धेः, प्रत्यभिज्ञानस्य साक्षात्प्रत्यक्षरूपरणान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेनानुभूयमानत्वात्, अन्यथा प्रथमव्यक्तिदर्शनकालेऽप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् ।

अथ पुनर्दर्शने पूर्वदर्शनाहितसंस्कारप्रबोधोत्पन्नस्मृतिसहायमिन्द्रियं प्रत्यभिज्ञानमुत्पादयतीत्युच्यते; तदनुचितम्; प्रत्यभस्य स्मृतिनिरपेक्षत्वात् । अन्यथा पर्वते जैसे बीझोंके माने चित्रज्ञानमें अनेक आकार प्रतिभासित होने पर भी वह एक ही है, उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान भी एक ही प्रतीत होता है । अपनी सामग्रीसे उत्पन्न होनेवाला प्रत्यभिज्ञान वास्तव में एक ही अस्पष्ट आकारवाला है । उसमें होनेवाला 'इदम्' उल्लेख प्रत्यभिज्ञान का कारण है ।

शंका— सभी पदार्थ क्षणिक हैं, अतएव प्रत्यभिज्ञानका विषय कुछ भी नहीं । इस कारण वह अप्रमाण है ।

समाधान— नहीं, पूर्वपर्वाव और वर्तमान पर्याय में स्थिर रहनेवाला विशिष्ट एक (द्वय का एकत्व) प्रत्यभिज्ञानका विषय है ।

इस विवेचनसे प्राभाकरोंका यह मत भी खण्डित हो जाता है कि प्रत्यभिज्ञान वास्तव में एक ज्ञान नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष और स्मरणरूप दो ज्ञान हैं, परन्तु दोनोंमें भेद मालूम नहीं पड़ता, इस कारण वे एक ज्ञानके रूपमें मालूम होते हैं । ऐसा माननेपर तो प्राभाकरको दण्ड-सहित दण्डी दृत्यादि सभी विशिष्ट ज्ञानोंका अभाव मानना पड़ेगा ।

नैयायिकोंका कहना है कि प्रत्यभिज्ञान इन्द्रियके साथ अन्वय-व्यतिरेक धारण करता है, अर्थात् इन्द्रियव्यापार होनेपर ही होता है और इन्द्रियव्यापारके अभावमें नहीं होता, अतः यह प्रत्यक्ष ही है । उनका कथन भी ठीक नहीं प्रत्यभिज्ञानमें इन्द्रियोंका व्यापार साक्षात् नहीं 'होता; किन्तु प्रत्यक्ष और स्मरणका ही साक्षात् अन्वय-व्यतिरेक अनुभवमें आता है । ऐसा न होता तो प्रथम व्यक्तिको देखनेपर भी प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न हो जाता ।

शंका—पहलेके प्रत्यक्षसे संस्कार प्राप्त होता है । उस संस्कारकी जागृति होनेपर स्मृति की उत्पत्ति होती है । उस स्मृतिकी सहायतासे इन्द्रिय ही प्रत्यभिज्ञानको उत्पन्न कर देती है, अतः वह प्रत्यक्ष ही है ।

समाधान—यह कथन अनुचित है, क्यों कि प्रत्यक्षको स्मृतिकी अपेक्षा नहीं होती । अगर

बहिनज्ञानस्यापि व्याप्तिस्मरणादिसापेक्षमनसंक्षेपपत्तौ अनुमानस्याप्युच्छेदप्रसङ्गात् । किञ्च, 'प्रत्यभिजानामि' इति विलक्षणप्रतीतेरप्यतिरिक्तमेतत्, एतेन विशेषेन्द्रियसञ्चिकर्षसत्त्वाद्विशेषणज्ञाने सति विशिष्टप्रत्यक्षरूपमेतदुपपद्यते' इति निरस्तम्; 'एतत्सहशः सः' इत्यादौ तदभावात्, स्मृत्यनुभवसङ्कलनक्रमस्यानुभविकत्वाच्चेति दिक् । अत्राह भादृः—नन्देकत्वज्ञानं प्रत्यभिजानमस्तु, साहश्यज्ञानं तृपमानमेव, गवये हृष्टे गवि च स्मृते सति साहश्यज्ञानस्योपमानत्वात्, तदुक्तम्—

"तस्माद्यत् स्मर्यते तत् स्यात् साहश्येन विशेषितम् ।

प्रमेयमुपमानस्य साहश्यं वा तदन्वितम् ॥

प्रत्यक्षेणावद्बुद्धेऽपि साहश्ये गवि च स्मृते ।

विशिष्टस्यान्त्यतोऽसिद्धेरूपमानप्रमाणता ॥" श्लोकवा० उप० ३७-३८

इति; तत्र; हृष्टस्य साहश्यविशिष्टपिण्डस्य स्मृतस्य च गोः सङ्कलनात्मकस्य 'गोसहशो गवयः' इति ज्ञानस्य प्रत्यभिजानताऽन्तिक्रमात् । अन्यथा 'गोविसहशो ऐसा न माना जाय तो यह भी कहा जा सकेगा कि व्याप्ति—स्मरण की सहायतासे, मनसे ही पर्दतामें अग्निका शान है जाना है, अतएव वह की प्रत्यक्ष है । ऐसी अवस्थामें अनुमानका भी अमाव हो जायगा ।

इसके अतिरिक्त 'प्रत्यभिजानामि' इस विलक्षण प्रतीतिसे भी प्रत्यभिजान अलग ही सिद्ध होता है । इस विवेचनसे नैयायिकोंका यह कहना भी खण्डित हो जाता है कि 'स एवायं घटः (यह वही घट है)' यही घट रूप विशेष्यके साथ इन्द्रियका सञ्चिकर्ष होनेसे 'वह' इस प्रकारके विशेषणज्ञान—स्मरणकी सहायतासे विशिष्ट प्रत्यक्षरूप ही प्रत्यभिजान उत्तम होता है । 'क्यों कि' वह इसके समान है इस साहश्यप्रत्यभिजानमें उक्त कथन घटित नहीं हो सकता—और स्मृति तथा अनुभवकी संकलनाका क्रम अनुभवमें आता है । अतः प्रत्यभिजान पृथक् ही प्रमाण है ।

भादृ कहते हैं—एकत्वको विषये करनेवाला ज्ञान भले ही प्रत्यभिजान कहलाए, किन्तु सहशताको जाननेवाला ज्ञान उपमान है । गवयके देखनेपर और गौका स्मरण होनेपर जो सहशता का ज्ञान होता है, 'वह उपमान है । कहा भी है—'सहशतासे युक्त जिस पदार्थका स्मरण किया जाता है, वह उपमान का प्रमेय(विषय)है । अथवा उस पदार्थसे युक्त सहशता, उपमानका विषय है । साहश्य यद्यपि प्रत्यक्षसे दिखाई देता है और गायका स्मरण होता है, फिर भी विशिष्टताका बोध किसी भी अन्य प्रमाणसे नहीं होता । इसी कारण उपमान प्रमाण है ।

भादूओंकी यह मान्यता युक्त नहीं है । प्रत्यक्ष और स्मरणके जोड़रूप ज्ञानको प्रत्यभिजान कहा गया है । 'गवय गौके समान है' इस ज्ञानमें भी उक्त लक्षण घटित होता है । अतएव

महिषः' इत्यादेरपि साहृश्याविषयत्वेनोपमानातिरेके प्रमाणसंख्याव्याधातप्रसंगात् ।

एतेन—‘गोसहृशो गवयः’ इत्थतिदेशबाक्यार्थज्ञानकारणकं साहृश्यविशिष्टपिण्ड-वर्णनव्यापारकम् ‘अयं गवयशब्दवाच्यः’ इति सञ्ज्ञासञ्ज्ञसम्बन्धप्रतिपत्तिरूपमुपमानम्—इति नैयायिकमतमप्यपहस्तितं भवति । अनुभूतव्यवतौ गवयपदवाच्यत्वसङ्कलनात्मकस्यास्य प्रत्यभिज्ञानत्वानतिक्रमात् प्रत्यभिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषणयद्भर्मविच्छेदेनातिदेशावाक्यानूच्छधर्मवर्णनं तद्वर्मविच्छेदेनेव पदवाच्यत्वपरिच्छेदोपपत्तेः। अत एव ‘पथोऽस्म्बुभेदी हंसः स्पात्’ इत्यादिवावाक्यार्थज्ञानवतां पथोऽस्म्बुभेदित्यादिविशिष्टव्यक्तिदर्शने सति ‘अयं हंसपदवाच्यः’ इत्यादिप्रतीतिर्जयमानोपपद्यते । यदि

उसे प्रत्यभिज्ञान ही मानना उचित है । सहशतासे विशिष्टपिण्ड (गवय) का प्रत्यक्ष और गौका स्मरण होता है । इन दोनोंका संकलनरूप जो ‘गौके समान गवय’ यह ज्ञान है; वह प्रत्यभिज्ञान से अलग नहीं हो सकता । अगर सहशताको जाननेवाला उपमान प्रमाण अलग मानोगे तो ‘महिष गाय से विलक्षण है, इत्यादि ज्ञान—जो सहशताको नहीं जानते—उपमानसे भी अलग प्रमाण मानने पड़ेंगे । ऐसी स्थितिमें प्रमाणोंकी नियत संख्यामें व्याधात हो जायगा ।

नैयायिक भी उपमान को प्रमाण तो मानते हैं, किन्तु भाटू की भाँति उसे साहृश्यविषयक नहीं मानते । उनके मतानुसार संज्ञा (नाम) और संज्ञी (नामवाले) के संबंधका ज्ञान हो जाना उपमान है । वे कहते हैं—‘गोसहृशो गवयः’ अर्थात् गवय गौके समान होता है; ऐसा अतिदेश वाक्य किसी ने सुना और उसका अर्थ समझा । उसके बाद गौके समानपिण्ड (गवय) उसे दिखाई दिया । जब उसे गवय दिखाई दिया तभी पहले सुने हुए वाक्य का स्मरण हो आया । इस प्रकार सहश पिण्डके देखने और पूर्वशुत वाक्यके स्मरणसे उसे ज्ञान हो गया कि—‘गवय शब्दका वाच्य यह है ।’ इस तरह गवय शब्द और गवय पदार्थके आपसके संज्ञा—संज्ञी—संबंधका ज्ञान हो जाना उपमान है ।

भाटूके मतपर जो विचार किया गया है, उसीसे नैयायिकका यह कथन भी खंडित हो जाता है । पूर्वानुभूत व्यक्तिमें गवय शब्दकी वाच्यताका संकलनस्वरूप यह ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञानसे अलग नहीं है ।

प्रत्यभिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम-विशेषसे, जिस धर्म-संबंधी अतिदेश वाक्यद्वाराकथित धर्मका दर्शन होता है, उसी धर्मको लेकर शब्दकी वाच्यताका ज्ञान होता है ।

इसी से ‘हंस दूध और पानीका भेदक होता है’ इत्यादि वाक्योंके अर्थको जाननेवाले व्यक्ति जब दूध-पानीके भेदकत्व आदि धर्मवाले व्यक्तियोंको देखते हैं तब उन्हें ‘हंस शब्दका वाच्य यह है’ इस प्रकारकी प्रतीति होती है ।

च 'अर्थं गवयपदवाच्यः' इति प्रतीत्यर्थं प्रत्यभिज्ञातिरिक्तं प्रमाणमाश्रीयते तथा आमलकादिदर्शनाहितसंस्कारस्य बिल्वादिदर्शनगत् 'अतस्तत् सूक्ष्मम्' इत्यादिप्रतीत्यर्थं प्रमाणान्तरमन्वेषणीयं स्यात् । मानसत्वे चासामुपमानस्यापि मानसस्वप्रसंगत् । 'प्रत्यभिज्ञानामि' इति प्रतीत्या प्रत्यभिज्ञानत्वमेवाश्युपेयमिति दिक् ।

(३ तर्कस्य निरूपणम् ।)

सकलदेशकरलाद्यबच्छेदेन साध्यसाधनभावादिविषय ऊहस्तर्कः, यथा 'यत्वान् कदिवद्गूपः स सर्वो वहनौ सत्येष भवति, वहिन विना वा न भवति' 'घटशब्दमात्रं घटस्य वाचकम्' घटमात्रं पटशब्दवाच्यम्' इत्यादि । तथा हि—स्वरूपप्रयुक्ताऽच्यभिचारलक्षणायां व्याप्ती भूयोदर्शनसहितान्वयव्यतिरेकसहकारेणापि प्रत्यक्षस्य तावदविषयत्वादेवाप्रवृत्तिः, सुतरां च सकलसाध्यसाधनव्यक्त्युपसंहारेण तद्ग्रह इति

'यह गवय शब्दका वाच्य है ऐसी प्रतीतिके लिए अगर प्रत्यभिज्ञानसे अलग उपमान प्रमाण माना जायगा तो आँखेलेके दर्शनसे प्राप्त संस्कारवाला पुरुष जब बिल्व (बेल) को देखेगा और उसे 'इससे वह छोटा है, ऐसी प्रतीति होगी तो इस प्रकारकी प्रतीतियोंके लिए उपमानसे अलग प्रमाण मानने पड़ेंगे ।

कदाचित् 'यह उससे छोटा है, यह उससे बड़ा है, यह उससे बिलक्षण है' इत्यादि प्रतीतियोंको मानसिक ज्ञान मानो तो फिर उपमानका भी मानस ज्ञान ही मान लेना चाहिए तात्पर्य यह है कि 'प्रत्यभिज्ञानामि' इस प्रकारकी प्रतीतिसे इन सब संरूपनात्मक ज्ञानोंको प्रत्यभिज्ञान ही स्वीकार करना चाहिए ।

३ समस्त देश और समस्त काल-संबंधी साध्य-साधनभाव (अविनाभावव्याप्ति) आदि (वाचवाचकभाव) को जानने वाला ज्ञान तर्क है । जैसे 'जो भी कोई धूम होता है, वह सब अग्निके होने पर ही होता है, अग्निके बिना नहीं होता ।' तथा 'जो-जो घट शब्द होते हैं, वे सब घट (अर्थ) के बालक होते हैं, जो-जो घट पदार्थ हैं, वे सब 'घट' शब्दके वाच्य होते हैं, इत्यादि ।

स्वाभाविक अव्यभिचार* रूप व्याप्तिमें भूयोदर्शन—सहित अन्वय और व्यतिरेककी सहायतासे भी प्रत्यक्षकी प्रयुक्ति नहीं हो सकती, क्यों कि व्याप्ति प्रत्यक्षका विषय ही नहीं है । आशय यह है कि प्रत्यक्ष इन्द्रियसम्बद्ध और वर्तमानकालीन वस्तुको ही जान सकता है, त्रिकाल-त्रिलोक-संबंधी व्याप्तिको नहीं, किन्तु सकल साध्य और साधनके उपर्युक्त-द्वारा

* अव्यभिचार दो प्रकारका है अनौपाधिक और सोपाधिक, जहाँ धूम होता है वही वगिन होती है, अहाँ अनौपाधिक अव्यभिचार है । यही स्वाभाविक अव्यभिचार कहलाता है । किन्तु जहाँ अग्नि होती है वही धूम होता है, यहीं सोपाधिक अव्यभिचार है, क्योंकि यहाँ गीले ईंधनका संयोग रूप उत्तर्पति है, असलमें व्याप्ति वही है जहाँ स्वाभाविक-अनौपाधिक अव्यभिचार हो ।

साध्य—साधन—दर्शन—स्मरणप्रत्यभिज्ञानोयजनितस्तरके एवं तत्प्रतीतिमाधातुमलम् ।

अथ स्वव्याप्तकसाध्यसामानाधिकरण्यलक्षणाया व्याप्तेयोग्यत्वाद् भूयोदर्शन-व्यभिचारादर्शनसहकृतेनेन्द्रियेण व्याप्तिग्रहोऽस्तु, सकलसाध्यसाधनव्यक्त्युपसंहार-स्यापि सामान्यलक्षणप्रत्यासत्या सम्भवादिति चेत्; न; 'तर्क्यामि' इत्यनुभवसित्तुनेतकेणैव सकलसाध्यसाधनव्यक्त्युपसंहारेण व्याप्तिग्रहोपपत्तौ सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति-कल्पने प्रमाणाभावात्, अहं विना ज्ञातेन सामान्येनापि सकलव्यक्त्यनुपस्थितेऽच्च । बाच्यवाचकभावोऽपि तकेणैवावगम्यते, तस्येवं सकलव्यक्त्यार्थगोचरत्वात् । प्रयोजक-वृद्धोक्तं श्रुत्वा प्रवर्तमानस्य प्रयोज्यवृद्धल्य चेष्टामयलोक्य तत्कारणज्ञानज्ञनकतां शब्दे-व्याप्तिका ग्रहण होता तो है, अतः मानना पड़ेगा कि साध्य-साधनके दर्शन, स्मरण एवं प्रत्य-भिज्ञानकी सहायतासे उपसंहार करनेवाला अर्थात् उपसंहार करनेवाला तर्क ही व्योप्तिका ज्ञान उत्पन्न करनेमें समर्थ होता है ।

शब्दा—स्वाभाविक अव्यभिचारलग्न व्याप्ति अंगर प्रत्यक्षका विषय नहीं तो न सही, हेतु की अपने व्याप्तक साध्यके साथ समानाधिकरणता रूप व्याप्ति तो प्रत्यक्ष-योग्य है । क्योंकि इन्द्रिय-द्वारा भूयोदर्शन होता है और व्यभिचारका दर्शन कभी नहीं हुआ तथा सामान्यरूप प्रत्यासत्ति (संबंध) के द्वारा सकल साध्य-साधन रूप व्यक्तियोंका उपसंहार भी प्रत्यक्षसे संभव है । तात्पर्य यह है कि व्यक्तिनिष्ठ सामानाधिकरण, व्यक्ति यदि प्रत्यक्ष है तो, प्रत्यक्ष ही है । एक व्यक्तिगत सामानाधिकरणका इन्द्रियके साथ सभिकर्ष लौकिक सभिकर्ष है । किन्तु अनेक व्यक्तियोंमें समानरूपसे रहनेवाला सामान्य भी तो प्रत्यक्ष होता है और उसका कारण अलौकिक सभिकर्ष है । अतएव उस अलौकिक सभिकर्षके कारण साध्य-साधनभूत सकल व्यक्तियोंके सामानाधिकरणका भी उपसंहार प्रत्यक्ष ही कर लेगा । अतएव तर्कको पृथक् प्रमाण माननेकी आवश्यकता नहीं ।

समाधान—'तर्क्यामि' इस प्रतीतिसे तर्क प्रमाण सिद्ध होता है । इसी तर्कसे समस्त साध्य-साधन व्यक्तियोंका उपसंहार हो कर व्याप्तिका ग्रहण होता है । आप जो सामान्यरूप प्रत्यासत्तिकी कल्पना करते हैं, उसकी कल्पनामें कोई प्रमाण नहीं है । सामान्यका ज्ञान हो जाने पर भी तर्कके विना समस्त व्यक्तियोंकी उपस्थिति ग्रहण होना संभव नहीं । वाच्य-वाचकभाव भी तर्क-द्वारा ही जाना जाता है, क्योंकि तर्क ही सकल वाच्यों और वाचकोंको विषय कर सकता है ।

कोई घटके वाच्य-वाचकभावको न जाननेवाला व्यक्ति^१ प्रयोजक वृद्धके मुखसे 'घट'

शब्द सुनकर और ^२प्रयोज्य वृद्धकी किसी पदार्थको लानेकी चेष्टा देखकर यह जान लेना है

^१ किसी जानहार ने 'कशी जानकारसे कहा- 'घट लागो' वहीं अदेश देनेवाला प्रयोजकद्व और ^२ आदेश का पालन करनेवाला प्रयोज्यवृद्ध है ।

उवधारयन्ते (यतो) उन्त्यावद्यवश्रवण-पूर्वाविद्यवस्मरणोपजनितवर्णपदवाक्यविषयमङ्गलनात्मकप्रत्यभिज्ञानवत् आवापोद्वापाभ्यां संकलन्यकत्युपसंहारेण च वाच्यवाचकभाव-प्रतीतिदर्शनादिति । अयं च तर्कः सम्बन्धप्रतीत्यन्तरनिरपेक्ष एव स्वयोग्यतासामर्थ्यात्सम्बन्धप्रतीति च नयतीति नानवस्था ।

प्रत्यक्षपृष्ठभाविकिल्परूपस्वाक्षायं प्रमाणमिति बौद्धाः; तत्र; प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विकल्पस्यापि प्रत्यक्षपृष्ठभावाद्यवसायित्वेन सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्राहकत्वाभावात् । ताहशस्य तस्य सामान्यविषयस्याप्यनुमानवत् प्रमाणत्वात्, अवस्तुनिभासेऽपि परम्परथा पदार्थप्रतिबन्धेन भवतां व्यवहारतः प्रामाण्यप्रसिद्धेः । यस्तु-अग्निधूमव्यतिरिक्तदेशे प्रथमं धूमस्यानुपलभ्य एकः, तदनन्तरमग्नेहपलभस्ततो धूमस्ये-कि 'घट' शब्द इस पदार्थका वाचक है । उसी समय वह घ + अ + ट + अके अल्पिम अवयव 'अ' का अवण करता है, पूर्व अवयव 'घ' का स्मरण करता है । इस शब्द और स्मरणसे उसे वर्ण, पद, वाक्य और विषयका संकलनात्मक प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है । तत्पत्त्वात् आवाप और उद्वापके द्वारा समस्त व्यक्तियोंका उपसहार करके अर्थात् जो-जो घट शब्द होते हैं, वे सब घटपदार्थके वाचक होते हैं और जो-जो घट पदार्थ होते हैं, वे सब घट शब्दके वाच्य होते हैं, इस प्रकारके वाच्य-वाचकभावकी उसे प्रतीति होती है, ऐसा देखा जाता है ।

यह तर्क प्रमाण किसी दूसरे संबंधके ज्ञानकी अपेक्षा न रखता हुआ अपने ही सामर्थ्यके बलसे अविनाभाव या वाच्य-वाचकभावका ज्ञान उत्पन्न कर देता है, अतएव अनवस्था दोषके लिए कोई अवकाश नहीं है ।

बौद्ध कहते हैं— तर्क, प्रत्यक्षके पश्चात् होनेवाला विकल्परूप ज्ञान है, अतएव वह प्रमाण नहीं है । उनका कहना ठीक नहीं । प्रत्यक्षके पश्चात् उत्पन्न होनेवाला विकल्प, प्रत्यक्ष द्वारा जाने हुए पदार्थको ही ज्ञान सकता है, उससे भिन्न पदार्थको नहीं; अतएव सर्वोपसंहार करके (समस्त धूम अग्निको व्याप्त करके) व्याप्तिका ग्राहक नहीं हो सकता । तर्क विकल्परूप होकर भी और सामान्यका ग्राहक होकर भी अनुमानकी तरह प्रमाण ही नहीं है । अवस्तु (सामान्य) के ज्ञान (अनुमान) में भी, परम्परासे पदार्थ (विशेष) का संबंध होनेके कारण, बौद्धोंने प्रमाणता मानी है ।

किसी की मान्यता है कि—अग्नि और धूमसे रहित प्रदेशमें किसीको गहले—पहल धूम^१ का एक अनुपलभ्य हुआ—अर्थात् धूम मालूम नहीं हुआ । उसके पश्चात् अग्निका उपलभ्य हुआ और फिर धूम का उपलभ्य हुआ, इस तरह दो उपलभ्य हुए । तत्पत्त्वात् अग्निका अनुपलभ्य हुआ

१— बौद्ध नियिकल्प ज्ञानको ही प्रमाण मानते हैं । २— सामान्यका ज्ञापक होनेपर भी अनुमानको बौद्धोंने प्रमाण माना है ।

त्युपलभूयम् पश्चाद्ग्नेरनुपलभोजन्तरं धूमस्याभ्यनुपलभ इति द्वावनुपलभाविति
प्रत्यक्षानुपलभपञ्चकात्प्रशाप्तिग्रहः— इत्येतेषां सिद्धान्तः, तदुक्तम्—

‘धूमाधीवंहि नविज्ञानं धूमज्ञानमधीस्तयोः ।

प्रत्यक्षानुपलभाभ्यामिति पञ्चभिरन्वयः ।’

इति, स तु मिथ्या; उपलभानुपलभस्कभावस्य द्विविधस्यापि प्रत्यक्षस्य सन्निहित-
मात्रविषयतयाऽविचारकतया च देशादिव्यवहितसमस्तपदार्थगोचरत्वायोगात् ।

यतु ‘व्याप्यस्याहार्यरोपेण व्यापकस्याहार्यप्रसङ्गं तर्कः । स च विशेषदर्शन-
यद् विरोधिशङ्कालीनप्रमाणमात्रसहकारी, विरोधिशङ्कानिवर्तकत्वेन तदनुकूल एव
वा । न चायं स्वतः प्रमाणम्’ इति नैयायिकैरिष्यते; तथा; व्याप्तिग्रहरूपस्य तर्कस्य
और फिर धूमका भी अनुपलभ हुआ । इस तरह दो अनुपलभ हुए । इन पाँच प्रत्यक्ष एवं
अनुपलभरूप ज्ञानों से ही व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है । आशय यह है कि बारे-बार धूम और
अग्नि को साथ-साथ देखने से और बार-बार दोनोंका ही अनुपलभ होनेसे यह ज्ञान हो जाता
है कि इनमें कोई संबंध है । मगर जब अग्निके दिक्षेने पर भी धूम नहीं दिखता तो यह विशेषता
भी विदित हो जाती है कि धूमके बिना अग्नि तो हो सकती है, पर अग्निके बिना धूम
नहीं होता । इस प्रकार जब प्रत्यक्ष और अनुपलभसे ही व्याप्तिका ग्रहण हो जाता है तो उसे
ग्रहण करने के लिए तर्क-नामक पूर्थक् प्रमाण मानना व्यर्थ है । उनका कहना है—

धूम का ज्ञान न होना, अग्नि का ज्ञान होना और धूम का ज्ञान होना, तथा अग्नि
और धूम दोनों का ज्ञान न होना—यह पाँच प्रकार का प्रत्यक्ष तथा अनुपलभरूप ज्ञान ही
व्याप्तिका निणायिक हो जाता है ।

उनका यह कथन मिथ्या है । चाहे उपलभरूप प्रत्यक्ष हो, चाहे अनुपलभरूप प्रत्यक्ष
हो, दोनों ही प्रकार का प्रत्यक्ष इन्द्रिय-संबद्ध पदार्थको ही ग्रहण करता है और आगे-पीछे
का विचार न करके वर्तमानका ही ग्राहक होता है । अतएव वह शेष-काल आदि से व्यव-
हित समस्त पदार्थोंको विग्रह नहीं कर सकता ।

नैयायिकोंकी मान्यता यह है कि व्याप्यका आहार्य आरोप करके व्यापकका आहार्य
प्रसंग देना तर्क है । जैसे—‘पर्वतमें यदि अग्नि न होती तो धूम भी न होता ।’ यह तर्क है ।
'तर्क' स्वतः प्रमाण नहीं है, वह प्रमाणका सहायक है या प्रमाणके अनुकूल है, इस बारण
प्रमाणका अनुग्राहक मात्र है । स्थाणु और पुरुष-विषयक संशयकी अद्वस्थामें होनेवाला विशेषका
दर्शन जैसे इन्द्रियका सहकारी होता है या दूसरी कोटिका द्विवारक मात्र होता है ।
उसी प्रकार तर्क भी प्रमाणका सहायक होकर अथवा विरोधिशंकाको दूर करके प्रमाणके
अनुकूल होता है । किन्तु वह स्वयं प्रमाण नहीं है । उनका यह कथन युक्ति-युक्त नहीं है ।

* बाधनिवच्यकालीन इच्छाजनितज्ञान आहार्य ज्ञान है ।

सद्विद्यव्यवसायित्वेन स्वतः प्रमाणत्वात्, पराभिमततकं स्पापि क्वचिद्वेतद्विचारांगतया, विपर्ययपर्यवसायिन आहार्यशङ्काविद्यटकतया, स्वातन्त्र्येण शङ्कामाश्रिदिग्दकतया वोपयोगात् । इत्थं ज्ञाननिवर्तकत्वेन तर्कस्थ प्रामाण्यं धर्मभूषणोवतं सत्येव तत्र (तत्र) मिथ्याज्ञानरूपे व्यवच्छेद्ये संगच्छुते, ज्ञानाभावनिवृत्स्वर्थज्ञानतात्त्ववहारनिवन्धन—स्वधयवसितिपर्यवसितं व सामान्यतः फलमिति द्रष्टव्यम् ।

(४ अनुमानं द्वेष्टा विषये विवरणं लगायत् ।)

साधनात्साधविज्ञानम्—अनुमानम् । तद् द्विविधं स्वार्थं परार्थं च । तत्र हेतु-ग्रहण-सम्बन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम्, यथा गृहीतधूमस्य समृतव्याप्तिकस्य ‘पर्वतो वहिनमान्’ इति ज्ञानम् । अश्च हेतुग्रहण-सम्बन्धस्मरणयोः समुदितयोरेव कारण-स्वभवसेयम्, अन्यथा विस्मृताप्रतिपन्नसम्बन्धस्यागृहीतलिङ्गकस्य च कस्यचिदनुमानोत्पादप्रसंगात् ।

व्याप्तिको ग्रहण करना जिसका स्वरूप है, ऐसा यह तर्क स्व और प्रकार व्यवसायी होनेसे स्वयं प्रमाण है । नैयायिकोंके माने हुए तर्कका भी कहीं-कहीं व्याप्तिके विचारके अंग रूपमें, आहार्यकी शंका अर्थात् ‘पक्षमें हेतु हो किन्तु साध्य न हो’ इस प्रकारके व्यभिचारको आशङ्काके निवारकरूप में और जहाँ ऐसी शङ्का न हो वहाँ स्वतन्त्ररूप से शङ्का-निवारकके रूपमें उपयोग होता है ।

यदि शंकानिवारक होनेसे तर्ककी प्रमाणता स्वीकार की जाय तो ज्ञानार्थं धर्मभूषणका कथन किसे संगत होगा ? उन्होंने तो (‘न्यायदीपिका’में) अज्ञाननिवर्त्तक होनेसे तर्ककी प्रमाणता कही है ? इसका उत्तर यह है कि धर्मभूषणने तर्ककी अज्ञाननिवर्त्तक कहा है, सो वहाँ अज्ञानका अभिप्राय मिथ्याज्ञान समझना चाहिए । ऐसा माननेपर काई असंगति नहीं रहती ।

अब रह गई यह बात कि यदि तर्क मिथ्याज्ञानका निवारक होनेसे प्रमाण है तो प्रमाणमात्रका अज्ञाननिवृत्तिरूप जो फल माना गया है, वह तर्कमें किसे घटित होगा ? इसका उत्तर यह है कि जंतदर्शनमें सभी ज्ञान स्वव्यवसायी हैं, अतः तर्क भी स्वव्यवसायस्वरूप है और स्वव्यवसाय ही वास्तवमें अज्ञान-निवृत्ति है और उसीके कारण ज्ञानमें अर्थज्ञानतामा व्यवहार होता है । इस प्रकार तर्कमें भी अज्ञाननिवृत्तिरूप फल सिद्ध हो जाता है ।

४—साधनसे साध्यका ज्ञान होना अनुमान है । अनुमान दो प्रकारका है—(१) स्वार्थ-नुमान और (२) परार्थनुमान ।

हेतुका ग्रहण (ज्ञान) होनेसे तथा व्याप्तिका स्मरण होनेसे साध्यका ज्ञान होना स्वार्थनुमान है । जैसे—धूमको प्रत्यक्ष ज्ञाननेवाले और धूम-अग्निकी व्याप्तिका स्मरण करनेवालेको ‘यह पर्वत अग्निमान् है’ ऐसा जो ज्ञान होता है, वह स्वार्थनुमान है । यहाँ स्वार्थनुमानके दो कारण बतलाए हैं—हेतुग्रहण और व्याप्तिस्मरण । यह दोनों मिलकर ही कारण होते हैं—अलग-अलग नहीं । अन्यथा जिसने व्याप्ति जानी ही नहीं है या जो ज्ञानकर भूल गया है, उसे भी अनुमान हो जायगा । अथवा जिसे व्याप्तिका स्मरण तो है मगर हेतुका

(हेतुस्वरूपचक्री ।)

निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणे हेतुः, न तु त्रिलक्षणकादिः । तथा हि त्रिलक्षण एव हेतुरिति बोद्धाः । पक्षधर्मस्वाभावेऽसिद्धत्वव्यवच्छेदस्य, सपक्ष एव सत्त्वाभावे च विरुद्धत्वव्युद्धासस्य, विपक्षेऽसत्त्वनियमाभावे चानेकान्तिकत्वनिषेधस्यासम्भवेनानु-मित्यप्रतिरोधानुपपत्तेरिति; तज्ज; पक्षधर्मस्वाभावेऽपि उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयाद्, उपरि सविता भूमेरालोकवत्त्वाद्, अस्ति नभद्रचन्द्रो जलसन्द्रादित्याद्यानुमान-दर्शनात् । न चात्रापि 'कालाकाशादिकं अक्षित्यद्वयद्वयादिगत्' हत्तिकोदयादिमत्वात्' हत्येवं पक्षधर्मस्वोपपत्तिरिति वाच्यम्; अननुभूयमानधमिविषयत्वेनेत्यं पक्ष-धर्मस्वोपपादने जगद्गम्यपेक्षया काककाष्ठ्येन प्रासादधावल्यस्यापि साधनोपपत्तेः ।

ग्रहण नहीं हो रहा है, उसे भी अनुमान हो जायगा । मगर इनको अनुमान हो नहीं सकता । आशय यह है कि धूमका प्रत्यक्ष भी हो और अविनाभावका स्मरण भी हो, तभी अनुमान हो सकता है ।

[हेतु-स्वरूप]

निश्चित रूपसे अन्यथानुपत्ति ही जिसका एक मात्र लक्षण है, वही हेतु है । अर्थात् हेतुका एक ही लक्षण है और वह है अन्यथानुपत्ति—साध्यके अभावमें न होना । हेतु तीन लक्षणवाला या पाँच लक्षणवाला नहीं होता ।

बोद्धमतके अनुसार हेतु त्रिलक्षणक होता है— (१) पक्षधर्मस्व और (२) सपक्षसत्त्व और (३) विपक्षव्यावृत्ति, यह तीन हेतुके लक्षण हैं । इनमेंसे पक्षधर्मस्वके अभावमें हेतुकी असिद्धता नहीं टल सकती, सपक्षमें ही सत्त्व हुए विना विरुद्धता नहीं टल सकती और विपक्षमें असत्त्व हुए विना अनेकान्तिकता नहीं टल सकती । और इत तीनों दोषोंके अभावके विना अनुमानको उत्पत्ति नहीं हो सकती ।

बोद्धोंका यह कथन ठीक नहीं । पक्षधर्मता अर्थात् हेतुके पक्षमें रहनेके अभावमें भी ये अनुमान देखे जाते हैं— (१) एक मुहूर्तके बाद शकट (रोहिणी) नक्षत्रका उदय होगा, क्योंकि इस समय कृत्तिकाका उदय है । (२) ऊपर सूर्य है, क्यों कि पृथ्वी प्रकाशमय है । (३) आकाशमें चन्द्रमा है, क्यों कि जलमें चन्द्रमा है । यहीं तीनों हेतु पक्षमें नहीं रहते, अतः पक्षधर्मता नहीं है; किर भी ये गमक हैं ।

शब्दा— यहाँ दूसरी तरहसे अनुमान-वाक्यकी रचना करके पक्षधर्मस्व घटाया जा सकता है । जैसे— काल या आकाश, भविष्यमें होनेवाले शकट नक्षत्रके उदयवाला है, क्योंकि कृत्तिकाका उदयवाला है । इस प्रकारकी कल्पना करके पक्षधर्मस्व यहाँ भी घटाया जा सकता है । यहाँ कृत्तिकोदयवस्तु हेतु पक्ष (काल या आकाशका) धर्म है ।

समाधान—इस प्रकारसे अनुभवमें न आनेवाले पक्षकी कल्पना करके अगर आप पक्ष—

ननु यद्येवं पक्षधर्मताऽनुमिती नांगं तदा कथं तत्र पक्षभाननियम इति चेत्; एवचिदन्यथाऽनुपपत्यश्चठेदकतया ग्रहणात् पक्षभानं यथा नभश्चन्द्रास्तित्वं विना जलचन्द्रोऽनुपपत्त्व इत्यत्र, एवचिच्छ हेतुग्रहणाधिकरणतया यथा पर्वतो वहिनमान् धूम-वत्त्वादित्यत्र धूमस्य पर्वते ग्रहणाद्वाहनेरपि तत्र भानमिति । व्याप्तिग्रहयेलायां तु पर्वतस्य सर्वत्रानुवृत्त्यभावेन न ग्रह इति ।

यत्तु अन्तव्याप्त्या पक्षोपसाध्यसाधनसम्बन्धग्रहात् पक्षसाध्यसंसर्गभानम् ततु-
वतम्—“पक्षीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तव्याप्तिः, अन्यत्र तु वहि-
व्याप्तिः” (प्र. न. ३. ३८) इति; तत्र; अन्तव्याप्त्या हेतोः साध्यप्रत्यायनशक्तौ
सत्यां वहिव्याप्तिरुद्भावनव्यर्थत्वप्रतिपादनेन तस्याः स्वरूपप्रयुक्त (कृता) व्यभिचार-
रक्षणत्वस्य, वहिव्याप्तिरुच सहचारमात्रत्वस्य लाभात् सावंत्रिक्या व्याप्तेविषयभेद-
मात्रेण भेदस्य दुर्बचत्वात् । न चेदेवं तदान्तव्याप्तिग्रहकाल एष एव (काल एव)
धर्मत्व घटित करेंगे तो जगत् को पक्ष बनाकर काकको कृष्णतारूप हेतुसे प्रासादकी धबलता भी
सिद्ध हो जायगी । अर्थात् यह जगत् प्रासादकी धबलतावान् है, क्योंकि काककी कृष्णतावान् है,
वहाँ भी पक्षधर्मत्व घटित हो जायगा ।

शङ्का— अगर पक्षधर्मता अर्थात् हेतुका पक्षके धर्मरूपसे होना, यह अनुमितिका अंग
नहीं है तो अनुमितिमें पक्षके ज्ञानका नियम कैसे सिद्ध होगा ?

समाधान— पक्षका ज्ञान कहीं-कहीं अन्यथानुपपत्तिके अवच्छेदक-विशेषणरूपमें हो
जाता है, जैसे—‘आकाश-चन्द्रके विना जल-चन्द्र संभव नहीं’, यहाँ पर होता है । कहीं-कहीं
हेतु-ग्रहणके आधारके रूपमें पक्षका ज्ञान हो जाता है । ‘जैसे-पर्वत अग्निमान् है, क्योंकि
धूमवान् है’, इस स्थलपर धूमका पर्वतमें ग्रहण होता है, अतः अग्निका भी पर्वतमें ही भान
होता है । हाँ, व्याप्ति-ग्रहणके समय पर्वतकी सर्वत्र अनुवृत्ति नहीं, अतः वहाँ उसका भान भी
नहीं होता । कोई कहते हैं— अन्तव्याप्तिके द्वारा पक्षभल साध्य-साधनसंबंधका ग्रहण होनेसे
पक्ष और साध्यके संसर्गका भान हो जाता है । कहा भी है— पक्ष बनाये हुए ही विषयमें
साधनकी साध्यके साथ व्याप्ति होना अन्तव्याप्ति है, और पक्षसे भिन्न विषयमें साधनकी
साध्यके साथ व्याप्ति होना वहिव्याप्ति है । यह मान्यता संगत नहीं है; क्योंकि अन्तव्याप्ति
के द्वारा हेतुकी साध्यको बतलानेकी शक्ति होनेपर वहिव्याप्तिका प्रकट करना (कहना)
व्यर्थ बतलाया गया है । इससे यही लब्ध होता है कि अन्तव्याप्ति स्वाभाविक अव्यमिचार-
काली है और वहिव्याप्ति उसकी सहचारिणी मात्र है । सर्वत्र-समस्त व्यक्तियोंमें समान रूपसे
रहनेवाली व्याप्तिमें सिर्फ विषयके भेदसे भेद करना योग्य नहीं । अगर अन्तव्याप्तिमें पक्ष-
धर्मत्वका भान होता ही है, ऐसा माना जाय तो अन्तव्याप्तिका ज्ञान होते समय ही यह

पक्षसाध्यसंसर्गभानादनुमानवंक (फ) ल्यापत्तिः विना पर्वतो बहिनमानित्युद्देश्यप्रतीति-
मिति यथात्म्रं भाषनीयं सुधीभिः । इत्यं च 'पक्षवान्येतानि सहकारफलानि एकशा-
खाप्रभवत्वाद् उपयुक्तसहकारफलवित्यादी बाधितविषये, मूर्खोऽयं देवदत्तः तत्पुत्र-
त्वात् इतरतत्पुत्रवित्यादी सत्प्रतिपक्षे चातिप्रसंगवारणाय अबाधितविषयत्वासत्प्रति-
पक्षत्वस्थितं प्रत्युक्तप्रयत्नादाथ पाञ्चरूप्यं हेतुलक्षणम्, इति नैयायिकमतमन्यपा-
स्तम्; उद्देष्यति शकटमित्यादी पक्षधर्मत्वस्येवासिद्धेः, स इयामस्तत्पुत्रत्वादित्यत्र हेत्वा-
भासेऽपि पाञ्चरूप्यसत्त्वाच्च, निश्चितान्यथानुपपत्तेरेव सर्वत्र हेतुलक्षणत्वाच्चित्यात् ।

(साध्यस्वरूपचर्चा ।)

ननु हेतुना साध्यमनुमातव्यम् । तत्र किलक्षणं साध्यमिति चेत्; उच्यते अप्र-
तीतमनिराकृतमभीप्सितं च साध्यम् । शङ्कुतविषरीतानाध्यवसितवस्तुनां साध्यता-
पर्वत अग्निमान् हैं, इस उद्देश्यप्रतीतिके विना ही पक्ष और साध्यके संसर्गक । (पर्वतमें अग्निके
अस्तित्वका) भान हो जायगा; ऐसी स्थितिमें अनुमानकी कोई सार्थकता नहीं रहेगी । इस
विषयमें विद्वानोंको शास्त्रानुसार स्वयं ही विचार करलेना चाहिए ।

नैयायिकोंकी मान्यताके अनुसार हेतुमें पाँच लक्षण होने चाहिए । पूर्वोक्त तीन लक्षणोंमें
‘अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्वको मिला देनेसे हेतुके पाँच लक्षण होते हैं । ‘यह
आम्रफल पक्षे हुए हैं, क्योंकि एक ही शाखामें उत्पन्न हुए हैं’ इत्यादि बाधितविषयमें हेतुका
अतिप्रसंग रोकनेके लिए अबाधितविषयत्व आवश्यक है । तथा ‘यह देवदत्त मूर्ख है, क्योंकि
अमुकका पुत्र है, अन्य पुत्रोंके समान ।’ इस प्रकारके सत्प्रतिपक्ष हेतुओंमें अतिप्रसंग रोकनेके
लिए असत्प्रतिपक्षत्वको हेतुका लक्षण मानना आवश्यक है ।

नैयायिकोंकी यह मान्यता भी बीद्रमतकी मान्यताका निरास करनेसे ही निरस्त हो
जाती है । क्योंकि शकटका उदय होगा, कारण इस समय कृतिकाका उदय है, इत्यादि
हेतुओंमें पक्षधर्मत्व ही सिद्ध नहीं है ।

इसके अतिरिक्त गर्भस्थ मैत्र-पुत्र, श्याम है, क्योंकि वह मैत्रका पुत्र है; यहाँ हेत्वा-
भासमें भी पाँचों लक्षण विद्यमान हैं । आशय यह है कि कहीं-कहीं समीक्षीन हेतुमें भी पाँच
लक्षण नहीं होते अतः हेतुके उक्त लक्षणोंमें अव्याप्ति दोष आता है और कहीं-कहीं हेत्वाभासमें
भी वे पाये जाते हैं, इस कारण अतिव्याप्ति दोष आता है । अतएव विशिष्ट अन्यथानुपत्ति
को ही हेतुका लक्षण मानना उचित है ।

साध्यः—हेतुके द्वारा साध्यका अनुमान किया जाता है । तो साध्य किसे कहते हैं? इस
प्रश्नका उत्तर यह है—जो अप्रतीत हो अर्थात् प्रतिवादीको सिद्ध न हो, जो अनिराकृत हो अर्थात्
प्रमाणसे बाधित न हो और अभीप्सित हो अर्थात् बादीको सिद्ध हो, वह साध्य कहलाता है ।

१ प्रत्यक्षादि किसी प्रमाणसे साध्यमें व्राधा न आता । २ समान कलशाली विरोधी हेतुका न होना ।

प्रतिपत्त्यर्थमप्रतीतमिति विशेषगम् । प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य साध्यत्वं मा प्रसादः क्षीदित्यनिराकृतप्रहणम् । अनभिमतस्यासाध्यत्वप्रतिपत्तयेऽभीप्सितप्रहणम् ।

कथायां शङ्कितस्येव साध्यस्य साधनं युक्तमिति कश्चित्; तत्र; विपर्यस्ताव्युत्पन्नयोरपि परपक्षादिविरुद्धादिना कथायामुपसर्वणसम्भवेन संशयनिरासार्थमिति विपर्यानध्यवसायनिरासार्थमपि प्रयोगसम्भवात्, पित्रादेविपर्यस्ताव्युत्पन्नपुत्रादिशिक्षणप्रदानदर्शनाच्च । त चेदेवं जिगीषुकथायामनुमानप्रयोग एव न स्यात्, तस्य साभिमानवेन विपर्यस्तत्वात् ।

अनिराकृतमिति विशेषणं बादिप्रतिवाद्युभयापेक्षया, द्वयोः प्रमाणेनावाधितस्य कथायां साध्यत्वात् । अभीप्सितमिति तु वाच्यपेक्षयं व, बक्तुरेव स्वाभिप्रेतार्थप्रतिपादनायेच्छासम्भवात् । ततश्च परार्थश्चक्षुरादय इत्यादी पारार्थमात्राभिधानेऽप्यात्मार्थत्वमेव साध्यं (०मेव साध्यं) सिध्यति । अन्यथा संहतपरार्थत्वेन बीद्वैश्चक्षु-

जिसमें शंका हो, विपरीत ज्ञान हो रहा हो या अनध्यवसाय हो वही वस्तु साध्य होती है, यह सूचित करनेके लिए 'अप्रतीत' पदका प्रयोग किया है । जो प्रत्यक्ष आदिसे बाधित है—वह साध्य न हो जाय, यह सूचित करने के लिए 'अनिराकृत' पद रखा है । जिसे वादी स्वयं ही स्वीकार नहीं करता, उसकी असाध्यता प्रकट करनेके लिए 'अभीप्सित' पदका प्रयोग किया गया है ।

किसी—किसी का कहना है कि कथा (वाद) में संदिग्ध साध्य को सिद्ध करना ही उचित है; किन्तु यह कथन ठीक नहीं । क्यों कि विपर्यस्त (विपरीत धारणा वाला) और अव्युत्पन्न (जिसे किसी पक्ष का ज्ञान न हो वह) भी परकीय पक्षको देखने—जाननेकी इच्छासे वादमें उत्तर राकृता है । अतएव जैसे संशयका निवारण करनेके लिए अनुमानप्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार विपर्यय और अनध्यवसायका निवारण करनेके लिए भी अनुमानका प्रयोग हो सकता है । लोक में भी माता—पिता आदि अपने विपर्यस्त और अव्युत्पन्न पुत्र आदिको शिक्षा देते देखे जाते हैं । अगर ऐसा न माना जाय तो जिगीषुवादमें अनुमानका प्रयोग ही नहीं हीना चाहिए, क्योंकि जिगीषुकथामें प्रतिवादी अभिमान—युक्त होनेके कारण विपर्यस्त होता है—संदेहग्रस्त नहीं होता ।

साध्यके लक्षणमें 'अनिराकृत' विशेषण वादी और प्रतिवादी दोनोंको अपेक्षा है । जो प्रमाणसे बाधित न हो उसे ही दोनोंको साध्य बनाना चाहिए ।

'अभीप्सित' विशेषण सिर्फ वादी की अपेक्षासे है; क्योंकि वादीकी ही अपने इष्ट अर्थका प्रतिपादन करनेकी इच्छा हो सकती है । अतएव 'चक्षु आदि इन्द्रियां परार्थ हैं, इस स्थल पर सामान्य रूप से परार्थ मात्र कहने पर भी आत्मार्थ साध्य होता है । यहीं 'परार्थ'

रादीनामभ्युपगमा (त् साधनवैकल्या) दित्यनन्वयादिदोषदुष्टमेतत्सांख्यसाधनमिति वदन्ति । स्वार्थनुमानावसरेऽपि परार्थनुमानोपयोग्यभिधानम्, परार्थस्य स्वार्थपुरः-सर्त्वेनान्ततिभेदज्ञापनार्थम् ।

व्याप्तिग्रहणसमयापेक्षया साध्यं धर्मं एव, अन्यथा तदनुपपत्तेः, आनुमानिक-प्रतिपत्यवसरापेक्षया तु पक्षापरपर्यायस्तद्विशिष्टः प्रसिद्धो धर्मो । इतर्थं च स्वार्थनुमानस्य त्रीण्यज्ञाने धर्मो साध्यं साधनं च । तत्र साधनं गमकत्वेनांगम्, साध्यं तु गम्यत्वेन, धर्मो पुनः साध्यधर्मधारत्वेन, आधारविशेषनिष्ठतया साध्याद्वे (साध्य-सिद्धे)-रनुमानप्रयोजनत्वात् । अथवा पक्षो हेतुरित्यंगद्वयं स्वार्थनुमाने, साध्यधर्मविजिष्टस्य धर्मिणः पक्षत्वात् इति धर्मधर्मभेदविवक्षया पक्षद्वयं द्रष्टव्यम् ।

का अभिप्राय 'आत्मार्थ' न माना जाय तो यह अनुमान ही व्यर्थ हो जाएगा, क्यों कि चक्षु आदि इन्द्रियोंको संहतपरार्थं रूपमें तो बीढ़ भी स्वीकार करते ही हैं, किन्तु वे पर अर्थात् आत्माको नहीं मानते अतएव इस अनुमानके द्वारा आत्मसिद्धि कराना सांख्यको इष्ट है । बीढ़-सांख्यके इप साधनको अनन्य आदि दोषोंमें दुष्ट कहते हैं । तात्पर्य यह है कि साध्य वादीकी इच्छानुरूप ही होता है । इसी कारण आत्माका अस्तित्व सिद्ध करनेके लिए सांख्य जब कहता है कि नयु आदि परार्थ हैं, तो उसका अर्थ 'आत्मार्थ' है; यही समझा जाता है ।

स्वार्थनुमानके प्रकरणमें परार्थनुमानके समय उपयोगी होनेवाले विषयका कथन यह दिखलानेके लिए किया है कि परार्थनुमान, स्वार्थनुमान-पूर्वक होता है; अतः दोनोंमें बहुत अधिक अन्तर नहीं है ।

व्याप्तिग्रहण के समय की अपेक्षा धर्मं ही साध्य होता है । उस समय अगर धर्मं को ही साध्य न बनाया जाय और धर्मी (पक्ष-पर्वत) को भी साध्य बना लिया जाय तो व्याप्ति बन नहीं सकेगी । जैसे—जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है, इस तरह व्याप्ति बनती है, परन्तु जहाँ धूम होता है, वहाँ पर्वतमें अग्नि होती है, ऐसी व्याप्ति नहीं बन सकती ।

अनुमान करते समय साध्यधर्मसे युक्त धर्मी साध्य होता है । धर्मीको पक्ष भी कहते हैं और वह धर्मी प्रसिद्ध होता है । (अनुमान करते समय सिफ़े यही कहा जाय कि—अग्नि है, क्यों कि धूम है तो यह कहना चूक ही जायगा, क्यों कि इससे अग्नि सामान्य की ही सिद्धि होगी और उसे सिद्ध करना व्यर्थ है—वह तो सिद्ध ही है ।)

इस प्रकार स्वार्थनुमान के तीन अंग हैं—धर्मी, साध्य और साधन । साधन गमक होने के कारण, साध्य गम्य होने के कारण और धर्मी साध्य का आधार होने के कारण अंग हैं । किसी खास आधार में ही साध्य को सिद्ध करना अनुमान का प्रयोजन होता है ।

अथवा—स्वार्थनुमानमें पक्ष और हेतु यही दो अंग होते हैं; क्यों कि साध्य धर्मसे युक्त धर्मी पक्ष कहलाता है । इस प्रकार धर्म और धर्मीके भेदकी विवक्षाकी जाय तो तीन

**धर्मिणः प्रसिद्धिश्च कवचित्प्रमाणात् कवचिद्विकल्पात् कवचित्प्रमाणविकल्पा—
भ्याम्।** तत्र निश्चितप्रामाण्यकप्रत्यक्षाद्यन्यतमावधूतत्वं प्रमाणप्रसिद्धत्वम्। अनिश्चित-
प्रामाण्याप्रामाण्यप्रत्ययगोचरत्वं विकल्पप्रसिद्धत्वम्। तद्द्वयविषयत्वं प्रमाणविकल्पप्र-
त्यक्षेणानुभूयते। विकल्पसिद्धो धर्मी यथा धूमवत्त्वादग्निमत्त्वे साध्ये पर्वतः, स खलु
प्रमाणत्वादित्यस्तित्वे साध्ये सर्वज्ञः। अथवा खरविषाणं नास्तीति नास्तित्वे साध्ये
उभयसिद्धो धर्मी यथा शब्दः परिणामी कृतकत्वादित्यत्र शब्दः, स हि वर्तमान (नः)
धर्मी। प्रमाणोभयसिद्धयोर्धर्मिणोः साध्ये कामचारः। विकल्पसिद्धे तु धर्मिणि सत्ता-
(परि. ३. २३) इति।

अंग हैं और अभेदकी विवक्षा करके पक्षको अंग माना जाय तो दो ही अंग हैं; यह दोनों ही पक्ष
समझ लेना चाहिए।

धर्मीकी सिद्धि कहीं प्रमाणसे, कहीं विकल्पसे और कहीं प्रमाण-विकल्प-दोनोंसे होती
है। जिसकी प्रमाणता निश्चित है ऐसे प्रत्यक्ष आदिमें से किसी भी प्रमाणसे जो निश्चित हो
वह प्रमाण-सिद्ध धर्मी कहलाता है। जिनकी न प्रमाणता सिद्ध है और न अप्रमाणता ही सिद्ध है,
ऐसे जानसे जो सिद्ध हो वह विकल्पसिद्ध धर्मी कहलाता है। जो प्रमाण और विकल्प-दोनोंसे
प्रमाणसिद्ध धर्मी है, क्यों कि धूमवान् है, यहाँ पर्वत
प्रमाणसिद्ध धर्मी है, क्यों कि पर्वत प्रत्यक्ष प्रमाणसे दिखाई देता है।

‘सर्वज्ञ है, क्यों कि बाधक प्रमाणोंका अभाव सुनिश्चित है।’ यहाँ अस्तित्व साध्यमें
‘सर्वज्ञ विकल्प-सिद्ध धर्मी है।’ या खरविषाण नहीं है; यहाँ नास्तित्व साध्यमें खरविषाण
विकल्पसिद्ध धर्मी है। यहाँ सर्वज्ञ और खरविषाणमें अस्तित्व और नास्तित्वकी सिद्धि होने
से पहले वे विकल्पसिद्ध हैं।

‘शब्द परिणामी है, क्यों कि कृतक है; यहाँ शब्द धर्मी उभय-सिद्ध है। क्यों कि वर्तमान-
कालीन शब्द प्रत्यक्षसिद्ध है और भूत-भविष्यत्कालीन विकल्पसिद्ध है।

प्रमाणसिद्ध और विकल्पसिद्ध धर्मीमें इच्छानुसार किसी भी धर्मको साध्य बनाया जा
सकता है; किन्तु विकल्पसिद्ध धर्मीमें सत्ता या असत्ता ही साध्य होते हैं। ऐसा नियम है। परी-
क्षामूलमें कहा भी है—‘विकल्पसिद्ध धर्मीमें सत्ता और असत्ता ही साध्य होते हैं।’

अत्र बौद्धः सत्तामात्रस्यानभीप्रितत्वाद्विशिष्टसत्तासाधने वानन्वयाद्विकल्पसिद्धे
धर्मिणि न सत्ता साध्येत्याह; सदसत्; इत्थं सति प्रकृतानुमानस्यापि भङ्गप्रसङ्गात्,
वहिनमात्रस्यानभीप्रितत्वाद्विशिष्टवहनेऽचानन्वयादिति । अथ तत्र सत्तायां साध्यायां
तद्वेतुः-भावधर्मः, भावाभावधर्मः, अभावधर्मो वा स्यात् ? आद्येऽसिद्धिः, असिद्धसत्ताके
भावधर्मसिद्धेः । द्वितीये व्यभिचारः, अस्तित्वाभावधर्मपि वृत्तेः । तृतीये च विरोधाभा
(विरोधोऽभा) वधर्मस्य भावे क्वचिदप्यसम्भवात्, तदुक्तम्—

‘नासिद्धे भावधर्मोऽस्ति व्यभिचार्युभयाश्रयः ।

धर्मो विरुद्धोऽभावस्य सा ससा साध्यते कथम् ? ॥’ (प्रमाणवा० १.१९२)
इति चेत्; न; इत्थं वहिनमद्वमंत्वादिविकल्पैर्धूमेन वदन्वयनुमानस्याप्युच्छेऽपत्तेः ।

विकल्पस्याप्रमाणत्वाद्विकल्पसिद्धो धर्मो नास्त्येवेति नैयायिकः । लस्येत्थं वचन-
स्येवानुपपत्तेस्तूष्णीमभावापत्तिः, विकल्पसिद्धधर्मिणोऽप्रसिद्धौ तत्प्रतिषेधानुपपत्तेरिति ।

इदं त्थवधेयम्—विकल्पसिद्धस्य धर्मिणो नाखण्डस्येव भानमसत्स्यातिप्रसंगा—

बौद्धोंने परस्पर विलक्षण, धर्मिक, निरंश और विशेष पदार्थोंको ही वास्तविक तत्त्व स्वीकार किया है । वे सत्ता (सामान्य) को स्वीकार नहीं करते । अतः कहते हैं—विकल्पसिद्ध धर्मो में जो सत्ता सिद्ध की जाती है, वह सामान्य सत्ता है या विशिष्ट सत्ता? सामान्य सत्ता सिद्ध करना अभीष्ट नहीं है और विशिष्ट सत्ता सिद्ध की जायगी तो अन्वय (व्याप्ति) नहीं बनेगी । अतएव विकल्पसिद्ध धर्मीमें सत्ता साध्य नहीं हो सकतो । उनका यह कहना असत् है । इस प्रकार तो धूमपे अग्निके अनुमानका भी अभाव हो जायगा । वहाँ भी यही कहा जा सकता है कि धूम हेतुसे अग्नि-सामान्य सिद्ध करना है या कोई विशिष्ट अग्नि? सामान्य अग्नि सिद्ध करना अभीष्ट नहीं, क्यों कि वह तो सिद्ध ही है । विशिष्ट अग्निको सिद्ध करना है तो व्याप्ति नहीं बन सकती । अर्थात् जहाँ धूम होता है, वहाँ विशेष अग्नि (पर्वतनिष्ठ अग्नि) होती है, ऐसा अन्वय नहीं बन सकता ।

नैयायिकका कथन है—‘विकल्प अप्रमाण होता है, अतएव विकल्पसिद्ध धर्मो नहीं हो सकता, अर्थात् जब विकल्प स्वयं अप्रमाण है तो उससे धर्मीकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? मगर उसका इस प्रकार कहना ही संगत नहीं है । यदि विकल्पसिद्ध धर्मो नहीं है तो उसका निषेध करनेके लिए उसे मीन ही रहना चाहिए । विकल्पसिद्ध धर्मीकी प्रसिद्धिके अभाव में उसका निषेध भी नहीं हो सकता । तात्पर्य यह है—‘विकल्पसिद्ध धर्मो नहीं है’ इस प्रति-जावाक्यमें ‘विकल्पसिद्ध धर्मो’ स्वयं विकल्पसिद्ध धर्मो है । उसे स्वीकार किये बिना उसका निषेध नहीं हो सकता ।

यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है—विकल्पसिद्ध धर्मोका ज्ञान तीन प्रकारसे हो सकता है—अखण्ड रूपसे, विशिष्ट रूपसे या खण्डशः प्रसिद्ध रूपसे । अखण्ड रूपसे उसका ज्ञानमाननेसे असत् व्याप्तिका प्रसंग आता है (वह जैनसिद्धान्तसे विशद्द है, क्योंकि जैनदर्शनने असत् का

दिति, शब्दादेविशिष्टस्य तस्य (भा) नाभ्युपगमे विशेषणस्य संशयोऽभावनिद्वये या वैशिष्ट्यभा(ना) नुपपत्तेः विशेषणाद्यांशे आहारारोपरूपा विकल्पात्मिकंवानुमित्तिः स्वीकर्तव्या, देशकालसत्तालक्षणस्यास्तित्वस्य, सकलदेशकालसत्ताऽभावलक्षणस्य च नास्तित्वस्य साधनेन परपरिकल्पितविपरीतारोपद्यवच्छेदमात्रस्य फलस्वात् ।

बस्तुतस्तु खण्डशः प्रसिद्धपदार्थाऽस्तित्वनास्तित्वसाधनमेवोचितम् । अतएव “असतो नत्य णिसेहो” (विशेषा० गा० १५३४) इत्यादि भाष्यग्रन्थे खरविषाणं नास्तीत्यत्र ‘खरे विषाणं नास्ति’ इत्येवार्थं उपपादितः । एकान्तनित्यमर्थक्रियासमर्थं न अवति क्रमयौगपद्माभावादित्यत्रापि विशेषावमर्शदशायां क्रमयौगपद्मनिरूपकत्वाभावेनार्थक्रियानियामकत्वाभावो नित्यत्वादौ सुसाध (ध्य) इति सम्यग्निभालनीयं स्वपरसमय दत्तद्विष्टभिः ।

(जान स्वीकार नहीं किया है) शब्द या व्याप्तिज्ञान आदिसे, विशिष्ट विकल्प सिद्ध धर्मोंका ज्ञान मानने पर उसके विशेषणमें ‘संशय होनेपर या ऐभावका निद्वय होनेपर विशिष्टताका ज्ञान होना संभव नहीं है, तथापि विशेषणादि अंशमें ऐआहारारोपरूप विकल्पात्मक अनुमित्ति स्वीकार करना चाहिए । अमुक देश या कालमें सत्तारूप अस्तित्व और सकल देश तथा कालमें अभाव रूप नास्तित्वको सिद्ध करनेसे अन्यकलिप्त विपरीत समारोपका निराकरण हो जाता है । यही विकल्पसिद्धधर्मोंको स्वीकार करनेका फल है ।

वास्तवमें तो खण्डशः प्रसिद्ध पदार्थका अस्तित्व या नास्तित्व (जैसे प्रसिद्ध शृंग अंशमें प्रसिद्ध शशीयत्वका अभाव) सिद्ध करना ही उचित है, अर्थात् शूर्वोक्त तीन पक्षोंमें से तीसरा पक्ष ही रार्थवा निर्दोष है । ‘असतो नत्य णिसेहो’ इत्यादि भाष्यग्रन्थमें ‘खरविषाणं नास्ति’ इस चावयका ‘खरमें या खरके मस्तकपर विषाणं नहीं हैं,’ ऐसा ही अर्थ प्रतिपादित किया गया है ।

‘एकान्त नित्य पदार्थं अर्थक्रिया करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि उसमें क्रम और यौगपद्मका अभाव है, इस अनुमानमें विशेष धर्मोंके परामर्शकी दशामें क्रम और यौगपद्मके अभावमें अर्थक्रिया नियामकत्वका अभाव एकान्त नित्यत्व आदिमें विना किसी कठिनाईके साधा जा सकता है । तात्पर्य यह है कि जैनदर्शनमें यद्यपि एकान्त नित्य पदार्थ सिद्ध नहीं है, किन्तु उसे विकल्पसिद्ध मानकर एकान्त नित्य पदार्थमें अर्थक्रियाका अभाव सिद्ध करनेमें कोई कठिनाई नहीं हो सकती । अर्थात् किसी पदार्थकी सत्ता अर्थक्रियासे सिद्ध होती है और अर्थक्रिया क्रम या यौगपद्मसे सिद्ध होती है । अतएव यदि क्रम और यौगपद्मका अभाव हो तो अर्थक्रिया नहीं और अर्थक्रिया न हो तो सत्ता नहीं । इस न्यायसे नित्य पदार्थमें अर्थक्रियाका अभाव सिद्ध करना सरल है । इस विषयमें स्वसमय और परसमय पर दृष्टि रखने वालोंकी सम्यक् प्रकारसे विचार करना चाहिए ।

१ शासके विषाण होते हैं या नहीं, ऐसा सन्देह । २ शासके विषाण नहीं होते, इस प्रकार अभावका निद्वय । ३ बाधकालीन इच्छाजन्य ज्ञान शृंगमें शशीयत्वका ज्ञान हो ऐसी इच्छासे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान ।

(पराथनुमानस्य प्रतिपादनम्)

परार्थं पक्षहेतुवचनात्मकमनुमानमुपचारात्, तेन श्रोतुरनुमानेनार्थबोधनात्। पक्षस्य विवादादेव गम्यमानत्वादप्रयोग इति सौगतः; तस्मै यत्किञ्चिद्वचनव्यवहितात् ततो व्युत्पन्नमते: पक्षप्रतीतावव्यन्यान् प्रत्यवश्यनिर्देश्यत्वात् प्रकृतानुमानवाक्यावयवान्तरं कवाक्षयतावज्ञात्तोऽवगम्यमानस्य पक्षस्याप्रयोगस्य चेष्टवात्। अवश्यं चाभ्युपगम्तव्यं हेतोः प्रतिनियतधर्मिधर्मताप्रतिपत्त्यर्थमुपसंहारवचनवत् साध्यस्यापि तदर्थं पक्षवचनं ताथागतेनापि, अन्यथा समर्थनोपन्यासादेव गम्यमानस्य हेतोरप्यनुपन्यासप्रसंगात्, मन्दमतिप्रतिपत्त्यर्थस्य चोभयत्राविशेषादिति। किञ्च, प्रतिज्ञायाः प्रयोगान्हेत्वे शास्त्राद्वावप्यसौ न उपसंहारेत्, हेतुपदे व प्रयुज्यमानेयं शाक्यशास्त्रेऽपि। परानुग्रहार्थं शास्त्रे तत्प्रयोगश्च बादेऽपि तुल्यः, विजिगोषूणामपि मन्दमतीनामर्थप्रतिपत्तेस्तत एवोपपत्तेरिति।

[पराथनुमान]

गांधनसे साध्यका जान होना अनुमान है, यह पहले बतलाया जा चुका है; यहाँ पराथनुमानका निरूपण किया जा रहा है। पक्ष और हेतुका प्रयोग करना पराथनुमान है। पराथनुमान ज्ञानात्मक न होकर वचनात्मक होनसे उपचारसे प्रमाण माना गया है। उपचारका कारण यह है कि वचनसे श्रोताको अनुमानज्ञान होकर अर्थका बोध उत्पन्न होता है।

बौद्धोंकी मान्यता है कि पक्ष का ज्ञान विवादसे ही अर्थात् जिस विषयमें विवाद खड़ा हुआ हो उससे हो जाता है, अतएव उसके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं है। वह मान्यता समीक्षी नहीं है। व्युत्पन्नमतिवालेको किसी भी प्रामाणिक अन्य वचनोंसे व्यवहित होनपर भी विवादसे पक्षकी प्रतीति हो भी जाय तो भी दूसरोंके प्रति, जिन्हें उसकी प्रतीति नहीं हुई है, पक्षका प्रयोग अवश्य करना चाहिए। प्रकृत अनुमान वाक्यके अन्य अवयवोंसे एक वाक्यताको प्राप्त विवादसे अगर पक्षकी प्रतीति हो जाय तो पक्षका प्रयोग न करना भी अभीष्ट है। जैसे प्रतिनियत धर्मिका धर्म प्रकृत करनेके लिए बौद्ध हेतुका उपसंहार (उपनय) करते हैं, उसी प्रकार साध्यको प्रतिनियत धर्मिका धर्म सिद्ध करनेके लिए पक्षका प्रयोग भी अवश्य करना चाहिए। अर्थात् जैसे उपनयका प्रयोग करनेसे यह प्रतीत हो जाता है कि हेतु अमुक धर्मिका धर्म है, उसी प्रकार पक्षका प्रयोग करनेसे यह प्रतीत हो जाता है कि यह साध्य अमुक धर्मिका धर्म है। यदि पक्षके प्रयोगको अनावश्यक कहा जाय तो हेतुका प्रयोग भी अनावश्यक हो जायगा, क्योंकि समर्थन करनेसे ही हेतुकी प्रतीति हो सकती है। यदि कहा जाय कि मन्दवृद्धियोंको समझानेके लिए हेतुका प्रयोग करना आवश्यक है तो पक्षके विषयमें भी यही बात समझ लेना चाहिए।

आगमात्परेणैव ज्ञातस्य वचनं पराथनुमानम्, यथा बुद्धिरचेतना उत्पत्तिम-
स्त्रात् घटविति सांख्यानुमानम् । अत्र हि बुद्धावृत्पत्तिमत्वं सांख्याने (ख्येन)
नैवाभ्युपगम्यते इति; तदेतदपेशलम्; वादिप्रतिवादिनोरागमप्रामाण्यविप्रतिपत्तेः,
अन्यथा तत् एष साध्यसिद्धिग्रसंगात् । परीक्षापूर्वमागमाभ्युपगमेऽपि परीक्षाकाले तद्वा-
धात् । नम्बेवं भवद्विभारपि कथमापाद्यते परं प्रति 'यत् सर्वर्थकं तत् नानेकत्र सम्ब-
ध्यते, तथा च सामान्यम्' इति ? सत्यम्; एकधर्मोपगमे (मे) धर्मन्तरसम्बद्धश्चनमात्रं

इसके अतिरिक्त, यदि प्रतिज्ञा (पक्ष) प्रयोगके योग्य नहीं है तो शास्त्रादिमे भी
उसका प्रयोग नहीं करना चाहिए था, मगर बौद्ध-शास्त्रमें भी उसका प्रयोग देखा जाता है ।
यदि कहा जाय कि परानुग्रह के लिए शास्त्रमें प्रतिज्ञाका प्रयोग किया जाता है तो यह बात
तो बादमें भी समान है । मन्दमति विजिगीषु जनोंको पक्षप्रयोगसे ही अर्थका बोध हो सकता है ।

हेतु वादी और प्रतिवादी- उभयको सिद्ध होना चाहिए, इस सर्वसम्मत सिद्धान्तके
विरुद्ध कोई (सांख्य) कहता है—केवल प्रतिवादीको ही, उसके आगमके अनुसार जो सिद्ध है
उस हेतुका प्रयोग करना पराथनुमान कहलाता है । जैसे— बुद्धि अचेतन है, क्योंकि वह उत्प-
त्तिमान् है, जो उत्पत्तिमान् होता है, वह अचेतन होता है, जैसे घट । सांख्यका यह अनुमान
पराथनुमान है । यहाँ 'उत्पत्तिमत्व' हेतु स्वयं सांख्यको मान्य नहीं है (क्योंकि वह किसी
पदार्थका उत्पाद अथवा विनाश स्वीकार नहीं करता, सिफं आविभवि और तिरोभाव मानता
है) तथापि प्रतिवादीको सिद्ध है अतः यह पराथनुमान है । उनका यह कथन ठीक नहीं,
क्योंकि आगमकी प्रमाणताके विषयमें वादी और प्रतिवादीका मतभेद होता है । मतभेद न
हो तो आगमसे ही साध्यकी सिद्धि हो जाय— अनुमानकी आवश्यकता ही न रहे ।

कदाचित् कहा जाय कि प्रतिवादी अनुमान करनेके बाद परीक्षा करके आगमको
स्वीकार करेगा; अनुमान करते समय तो वह यों ही स्वीकार कर लेता है और उसीके
आधारसे हेतुका प्रयोग करता है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि परीक्षाके समय तो
उसमें बाधा है (जिसकी प्रमाणता निश्चित नहीं है ऐसे आगमके आधारपर हेतुका प्रयोग
करना समीचीत नहीं है ।)

शब्दा— यदि परकीय आगमसे सिद्ध हेतुका प्रयोग करना उचित नहीं है तो आप
सामान्यके एकान्त एकत्वका निषेध करनेके लिए क्यों नैयायिकके प्रति यह दोषापादन करते
हैं कि— 'जो सर्वथा एक होता है, वह अनेकोंमें सम्बद्ध नहीं हो सकता; सामान्य सर्वथा एक
है तो वह अनेकोंमें सम्बद्ध नहीं होना चाहिए ? अर्थात् यहाँ जैनोंने नैयायिक द्वारा ही स्वीकृत
सामान्यकी एकताको हेतु बनाकर उसके अनेकत्र संबंधका निषेध किया है । यह किस प्रकार
संगत हो सकता है ?

(त्र) तत्परत्वेनेतदापादनस्य वस्तुनिश्चायकत्वाभावात्, प्रसंगविपर्ययरूपस्य मौलहेतोरेव तन्निश्चायकत्वात्, अनेकवृत्तित्वव्यापकानेकत्वनिवृत्त्येव तन्निवृत्तेः मौलहेतुपरिकरत्वेन प्रसंगोपन्यासस्यापि न्यायत्वात् । बुद्धिरचेतनेत्यगदी च प्रसंगविपर्ययहेतोव्याप्तिसिद्धिनिवृत्तनस्य विरुद्धधर्माध्यासस्य विपक्षबाधकप्रभाणस्थानुपस्थापनात् प्रसंगस्याप्यन्यायत्वमिति वदन्ति ।

हेतुः साध्योपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विधा प्रयोक्तव्यः, यथा पर्वतो वहिनमान्, सत्येव वहनौ धूमोपपत्तेः असत्यनुपपत्तेबाँ । अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीयप्रयोगस्यैकत्रानुपयोगः ।

पक्षहेतुवचनलक्षणमवयवहुयमेव च परप्रतिपत्तयं न दृष्टान्तादिवचनम्, पक्षहेत-

समाधान—ठीक है, यह आपादन वस्तुपात् निश्चायक नहीं है । इसका प्रतीतन ऐव इतना ही है कि एक धर्मको स्वीकार करने पर दूसरा धर्म भी अवश्य स्वीकार करना पेंडेगा । अर्थात् यहाँ सिर्फ यही प्रकट किया गया है कि यदि सामान्यको सर्वथा एक स्वीकार करते हों तो उसका एक साथ अनेकोंमें रहना स्वीकार नहीं कर सकते और यदि अनेकोंमें रहना स्वीकार करते हों तो उसे सर्वथा एक नहीं मान सकते । असलमें तो प्रसंग विपर्ययहा मौलिक हेतु ही वस्तुका निश्चायक होता है । मौलिक हेतु यह है—सामान्य अनेकरूप है, क्योंकि अनेकोंमें सम्बद्ध है, जो अनेकोंमें सम्बद्ध होता है, वह अनेक होता है । अनेकत्व एकत्वसे विरुद्ध है और अनेकवृत्तित्व की उसके साथ ज्याप्ति है । जब सामान्यमें अनेकवृत्तित्व स्वीकार किया है तो अनेकत्व भी स्वीकार करना चाहिए । इस मौल हेतुके आधार पर ही पूर्वोत्तर प्रसंग दिया गया है । इस प्रकार अनेकवृत्तित्व के व्यापक अनेकत्व के अभावसे अनेकवृत्तित्वका भी अभाव हो जाता है । अतएव वह प्रसंगोपन्यास मूल हेतुका परिकर होनेसे न्यायोचित ही है । मगर ‘बुद्धि अचेतन है, क्योंकि वह उत्पत्तिमान् है’ यहाँ प्रसंगका उपन्यास करना न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि उत्पत्तिमत्त्व और अचेतनत्वकी व्याप्तिकी सिद्धि तब होती यदि वह चेतन्य और उत्पत्तिमत्त्वका विरोध सिद्ध करके दिपक्षमें धार्षक प्रमाण उपस्थित कर सकता । किन्तु वह वैसा करता नहीं, अतएव प्रसंगापादन करना उसके लिए उचित नहीं ।

हेतुका प्रयोग दो प्रकारसे करना चाहिए—साध्योपपत्तिके रूपसे तथा अन्यथानुपपत्तिरूपसे । साध्यके होनेपर ही हेतुका होना साध्योपपत्तिं है, जैसे—‘पर्वत वहिनमान है, क्योंकि वहिनके होनेपर ही धूम हो सकता है’ और साध्यके अभावमें साधनका अभाव होना अन्यथानुपपत्ति है । जैसे—‘क्योंकि वहिनके अभावमें धूम भी नहीं हो सकता ।’ इन दोनों प्रकारके प्रयोगोंमें से किसी भी एकके प्रयोगसे साध्यका ज्ञान हो जानेपर एक ही जगह दूसरे प्रयोगकी कोई उपयोगिता नहीं है ।

पक्षप्रयोग और हेतुप्रयोगरूप दो अवयवोंसे ही दूसरेको प्रतिपत्ति (बोध) हो जाती है

वचनादेव परप्रतिपत्तेः, प्रतिबन्धस्य तर्कत एव निर्णयात्, तत्स्मरणस्यापि पक्षहेतुद-
श्वनेनेव सिद्धेः, असमर्थितस्य हृष्टान्तादेः प्रतिपत्थनंगत्वात्तसमर्थनेनेवान्यथासिद्धेश्च ।
समर्थनं हि हेतोरसिद्धत्वादिदोषान्निराकृत्य स्वसाध्येनाविनाभावसाधनम्, तत एव
च परप्रतीत्युपपत्तौ किमयत्प्रयासेनेति ? ।

मन्दमतीस्तु अपूर्वादयित्तं हृष्टान्तादिप्रयोगोऽप्युपाल्यते, तथाहि-यः खलु क्षयो-
पक्षमविशेषादेव निर्णीतपक्षो हृष्टान्तस्मर्यप्रतिबन्धग्राहकप्रमाणस्मरणनिपुणोऽपराव-
यथाभ्युहृतसमर्थश्च भवति, तं प्रति हेतुरेकं प्रयोज्यः । यस्य तु नाशापि पक्षनिर्णयः,
तं प्रति पक्षोऽपि । यस्तु प्रतिबन्धग्राहिणः प्रमाणस्य न स्मरति, तं प्रति हृष्टान्तोऽपि ।
परतु दाष्टान्तिके हेतुं योजयितुं न जानीते, तं प्रत्युपनयोऽपि । एवमपि साकांक्षं
प्रति च निगमनम् । पक्षादिस्वरूपविप्रतिपत्तिमन्तं प्रति च पक्षशुद्धयादिकमपीति
सोऽयं दशावयवो हेतुः पर्यवस्थति ।

अतएव यही दो परार्थानुमान के अंग हैं, हृष्टान्त, उपनय और निगमन नहीं । परप्रतिपत्ति
पक्ष और हेतुके प्रयोगसे हो जाती है, अविनाभाव संबंधका निर्णय तर्कं प्रमाणसे होता है और
अविनाभावका स्मरण पक्ष तथा हेतुके प्रदर्शनसे हो जाता है । अतएव इनमें से किसी भी
प्रयोजनके लिए हृष्टान्त आदिके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं है । समर्थनके अभावमें हृष्टान्त
आदि प्रतिपत्तिके कारण नहीं होते हैं, और समर्थन होनेपर वे अन्यथासिद्ध बन जाते हैं ।

असिद्धत्व आदि दोषों का निवारण करके हेतुका अपने साध्यके माथ अविनाभाव सिद्ध
कर देना समर्थन कहलाता है । समर्थनसे ही परको प्रतीति हो जाती है, ऐसा विषयमें पर-
प्रतीतिके लिए दूसरे प्रयोगकी आवश्यकता ही क्या है ?

ही, मन्दबुद्धि जिज्ञासुओंको समझानेके लिए हृष्टान्त, उपनय और निगमनका प्रयोग
करना भी उपयोगी है । जिसने अपने क्षयोपशमकी विशिष्टतासे पक्षका निर्णय कर लिया है,
जो हृष्टान्तके द्वारा स्मरण कराने थोरप अविनाभावके ग्राहक तर्कं प्रमाणको स्मरण करने में
कुशल है तथा अन्यान्य अवयवोंका विवार करने में समर्थ है, उसके समक्ष केवल हेतुका
प्रयोग करना ही पर्याप्त है । उसके लिये पक्षका प्रयोग करना आवश्यक नहीं है, किन्तु
जिसने अभी तक पक्षका निर्णय नहीं कर पाया है, उसके लिए पक्षका भी प्रयोग करना उचित
है । जो अविनाभाव-ग्राहक, प्रमाण-तर्क-का स्मरण नहीं कर पाता है, उसके लिए हृष्टान्त
का भी प्रयोग करना चाहिए । जो दाष्टान्तिक (पक्ष) में हेतुकी योजना करना नहीं जानता ।
उसके लिए उपनयका भी प्रयोग आवश्यक है । इतना करनेपर भी जो साकांक्ष रहे अर्थात्
अधिक समझनेका इच्छुक हो, उसके लिए निगमनका भी प्रयोग करना चाहिए । जिसको पक्ष
आदिके स्वरूपके विषयमें विप्रतिपत्ति हो, उसके लिए पक्ष आदि पांचों अवयवोंकी शुद्धि भी
दिखलानी चाहिए । इस प्रकार परार्थानुमानके दश अवयव भी हो सकते हैं ।

(हेतुप्रकाराणामुपदर्शनम् ।)

स चायं द्विविधः—विधिरूपः प्रतिषेधरूपश्च । तत्र विधिरूपो द्विविधः—विधि-साधकः प्रतिषेधसाधकश्च । तत्राच्च बोढा, तद्वचा—कश्चिद्व्याप्य एव, यथा शब्दोऽनित्यः प्रयत्ननान्तरीयकत्थादिति । यद्यपि व्याप्यो हेतुः सर्वे एव, तथापि कार्याद्यना-त्मव्याप्यस्यात् (त्र) ग्रहणादभेदः, वृक्षः शिशपाया इत्यादेरप्यञ्चवान्तर्भविः । कश्चित्कार्यरूपः, यथा पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवस्त्वान्यथानुपपत्तेरित्यत्र धूमः, धूमो ह्याम्ने कार्यभूतः तदभावेऽनुपपद्मानोऽग्निं गमयति । कश्चित्कारणरूपः यथा वृष्टिर्भविष्यति, विशिष्टमेघान्यथानुपपत्तेरित्यत्र मेघविशेषः, स हि वर्षस्य कारणं स्वकार्यभूतं वर्षं गमयति । ननु कार्याभावेऽपि सम्भवत् कारणं न कार्यानुभावकम्, यत एव न वहिनधूमे गमयतीति चेत्; सत्यम्; धस्मसामर्थ्यप्रतिबन्धः कारणान्तरसाकल्यं च निश्चेतुं शक्यते, तस्येव कारणस्य कार्यानुभावकत्वात् । कश्चित् पूर्वचरः, यथा उद्देष्यति शक्तं कृत्तिकोदयान्यथानुपपत्तेरित्यत्र कृत्तिकोदयानन्तरं मुहूर्तन्ते नियमेन शक्टोदयो जायत

हेतुके मूल दो प्रकार हैं—विधिरूप और प्रतिषेधरूप । इनमें से विधिरूप हेतुके भी दो भेद हैं—विधिसाधक और निषेधसाधक । विधिसाधक विधिरूप हेतु छह प्रकारके होते हैं ।

१—व्याप्यहेतु, जैसे—जट अनित्य है, क्योंकि वह प्रयत्नजन्य है । अनित्यताघट आदिमें तथा मेघ विद्युत् आदिमें पाई जाती है, किन्तु प्रयत्नजन्यता सिफंघटादिमें है, मेघ विद्युत् आदिमें नहीं, अतएव प्रयत्नजन्यत्व अनित्यत्वका व्याप्य है । यद्यपि सभी हेतु व्याप्य ही होते हैं तथापि यहाँ उर्ध्वा व्याप्यकी विवक्षा की गई है जो कार्य आदि रूप न हो । इस कारण व्याप्य हेतु कार्यादि हेतुओंसे पृथक् गिना है । 'यह वृक्ष है, क्योंकि शिशपा (मोसम्) है' इत्यादि हेतु भी इसीमें अन्तर्गत हैं । २—कार्यहेतु, जैसे—यह पर्वत अग्निमान् है, क्योंकि अग्निमान् हुए विना धूमवान् नहीं हो सकता । वहाँ 'धूम' हेतु अग्निका कार्य है और अग्निके अभावमें न होता हुआ अग्निका गमक है । ३—कारणहेतु, जैसे—बर्षा होगी, क्योंकि वृष्टि मेघोंकी अन्यथानुपत्ति है । 'मेघ' वर्षाका कारण है और अपने कार्य वर्षाका गमक है ।

शब्दा—कारण, कार्यके अभावमें भी ही सकता है, अतएव वह कार्यका अनुभावक नहीं हो सकता । इसीसे अग्नि, धूमकी अनुभावक नहीं होती । फिर आपने कारणको हेतु क्यों कहा ?

गमाधान—ठीक है, किन्तु जहाँ यह निश्चय किया जा सके कि इस कारणका सामर्थ्य अप्रतिवृद्ध है अर्थात् उसमें कोई लकावट नहीं है तथा अन्यान्य कारणोंकी पूर्णता है, वही कारण कार्यका अनुभावक होता है । (क्योंकि ऐसे कारणसे कार्यकी उत्पत्ति अवश्य होती है ।)

४—पूर्वचर हेतु, जैसे—मुहूर्तके पश्चात् शक्ट नक्षत्रका उदय होगा, क्योंकि अग्नी कृत्तिकाका उदय है । कृत्तिकाके उदयके बाद नियमसे एकमुहूर्तमें शक्टका उदय होता है ।

इति कृत्तिकोदयः पूर्वचरो हेतुः शकटोदयं गमयति । कश्चित् उत्तरचरः यथोदगः । द्वूरणिः प्राक् कृत्तिकोदयादित्यत्र कृत्तिकोदयः, कृत्तिकोदयो हि भरण्युदयोत्तरचरस्तं गमयन्तीति कालव्यवधानेनानयोः कार्यकारणाभ्यां भेदः । कश्चित् सहचरः, यथा मातुलिङ्गं रूपबद्धवितुमहंति रसवत्तान्यथानुपपत्तेरित्यत्र रसः, रसो हि नियमेन रूपसहचरितः, तदभावेऽनुपपत्तमानस्तदगमयति, परस्परस्वरूपपरित्यागोपलभ्य-पौर्वार्पिर्यामावाभ्यां स्वभावकार्यकारणभ्योऽस्य भेदः । एतेषूदाहरणेषु भावरूपानेवान्यादीन् साधयन्ति धूमादयो हेतयो भावरूपा एवेति विधिसाधकविधिरूपास्त एवाविरुद्धोपलब्धय इत्युच्यन्ते ।

द्वितीयस्तु निषेधसाधको विरुद्धोपलब्धिनामा । स च स्वभावविरुद्धतद्व्याप्याद्युपलब्धिभेदात् समधा । यथा नास्त्येव सर्वथा एकान्तः, अनेकान्तस्योपलभ्यात् । नास्त्यस्य तत्त्वनिश्चयः, तत्र सन्देहात् । नास्त्यस्य क्रोधोपशान्तिः, वदनविकारादेः ।

अतएव कृत्तिकोदय पूर्वचर हेतु है और शकटोदयका ज्ञापक है । ५—उत्तरचर हेतु—भरणी नक्षत्रका उदय हो चुका है, क्योंकि इस समय कृत्तिकाका उदय है । यहाँ ‘कृत्तिकोदय’ उत्तरचर हेतु है और वह भरणी नक्षत्रके उदयका ज्ञापक है । पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओंमें कालका व्यवधान पाया जाता है, किन्तु कार्य और कारणमें व्यवधान नहीं होता । पूर्वक्षणवर्ती कारण और उत्तरक्षणवर्ती कार्य होता है, अतएव कार्यहेतु और कारणहेतुसे यह भिन्न है । ६—सहचर—हेतु, यथा— यह बिजौरा रूपवान् है, क्योंकि रसवान् है । ‘रस’ सहचरहेतु है और रूपके साथ ही होनेसे रूपका गमक है ।

सहचर वस्तुओंका स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है अतएव सहचरहेतुको स्वभावहेतुमें सम्मिलित नहीं कर सकते और उनमें पौर्वार्पिर्यका अभाव होता है अर्थात् वे कार्य-कारणकी तरह आगे-पीछे नहीं होते, इस कारण उसे कार्य-कारण हेतुमें भी अन्तर्गत नहीं कर सकते ।

ऊपर जो छह उदाहरण दिखलाए गए हैं, उनमें धूम आदि हेतु स्वयं सद्भावरूप हैं और सद्भावरूप अभिन्न आदिको ही सिद्ध करते हैं, अतएव वे विधिसाधक और विधिरूप हैं । यह ‘अविरुद्धोपलब्धि’ भी कहलाते हैं । हेतुका दूसरा प्रकार विरुद्धोपलब्धि है । यह निषेध-साधक होता है । इसके स्वभाव विरुद्धोपलब्धि, व्याप्यविरुद्धोपलब्धि आदि सात भेद हैं । यथा—

१—सर्वथा एकान्तका अभाव है, क्योंकि अनेकान्तकी उपलब्धि होती है । यह विरुद्ध स्वभावोपलब्धि हेतु है, क्योंकि ‘अनेकान्त’ हेतु प्रतिषेध्य एकान्तसे स्वभावसे ही विरुद्ध है । २—इस पुरुषको तत्त्वका निश्चय नहीं है, क्योंकि तत्त्वमें सन्देह है । यह विरुद्ध व्याप्योपलब्धि हेतु है, क्योंकि ‘तत्त्वसन्देह’ हेतु प्रतिषेध्य तत्त्वनिश्चयसे विरुद्ध अनिश्चयका व्याप्य है । ३—इस पुरुषमें क्रोधका उपशम नहीं है, क्योंकि इसके (चेहरे) पर विकार है । यह विरुद्ध कार्योपलब्धि हेतु है, क्योंकि ‘वदनविकार’ क्रोधके उपशमसे विरुद्ध अनुपशमका कार्य है । ४—इसका-

नास्त्यस्यासत्यं वचः, रागाद्यकलंकितज्ञानकलितत्वात् । नोदगमिष्यति मुहूर्तान्ते पुष्यतारा, रोहिण्युद्गमात् । नोदगाम्मुहूर्तात्पूर्वं मृगशिरः, पूर्वफा(फ)लगुन्युदयात् । नास्त्यस्य मिथ्याज्ञानं, सम्यग्दर्शनादिति । अत्रानेकान्तः प्रतिषेध्यस्यैकान्तस्य स्वभावतो विरुद्धः । तत्त्वसन्देहइच्च प्रतिषेध्यतत्त्वनिश्चयदिरुद्धतवनिश्चयव्याप्यः । ददनविकारादिइच्च क्रोधोपशमविरुद्धतवनुपशमकार्यम् रागाद्यकलञ्ज्ञितज्ञानकलितत्वं चासत्यविरुद्धसत्यकारणम् । रोहिण्युद्गमश्च पुष्यतारोद्गमविरुद्धमृगशीर्षोदयपूर्वचरः । पूर्वफलगुन्युदयश्च मृगशीर्षोदयविरुद्धमयोदयोत्तरचरः । सम्यग्दर्शनं च मिथ्याज्ञानविरुद्धसम्यग्ज्ञानसहचरमिति ।

प्रतिषेधरूपोऽपि हेतुद्विविधः—विधिसाधकः प्रतिषेधसाधकश्चेति । आद्यो विरुद्धानुपलब्धिनामा विधेयविरुद्धकार्यकारणस्वभावव्याप्तकसहचरानुपलम्भभेदातप्रधा । यथा अस्त्यन्तं रोगातिशयः, नीरोगव्यापारानुपलब्धेः । विद्यतेऽत्र कष्टम् इष्टसंयोगाभावात् । वस्तुज्ञानमनेकान्तात्मकम्, एकान्तस्वभावानुपलम्भात् । अस्त्यन्तं छाया, औष्ण्यानुपलब्धेः । अस्त्यस्य मिथ्याज्ञानम्, सम्यग्दर्शनानुपलब्धेरिति ।

वचन असत्य नहीं है, क्योंकि यह रागादिसे अकलंकित ज्ञानसे सम्पन्न है । यह विरुद्ध कारणोपलब्धि है, क्योंकि रागादिसे अकलंकित ज्ञानसे सम्पन्न होना असत्यसे विरुद्ध सत्य वचनका कारण है । ५—मुहूर्तके पश्चात् पुष्यताराका उदय नहीं होगा क्योंकि अभी रोहिणीका उदय है । यह विरुद्ध-पूर्वचर हेतु है, क्योंकि रोहिणीका उदय पुष्यताराके उदयसे विरुद्ध मृगशीर्षनक्षत्र के उदयका पूर्वचर है । ६—मुहूर्त पहले मृगशीर्षका उदय नहीं हुआ है, क्योंकि इस समय पूर्वफलगुनी नक्षत्रका उदय है । यह विरुद्ध-उत्तरचर हेतु है, क्योंकि पूर्वफलगुनीका उदय मृगशीर्षके उदयसे विरुद्ध मषा नक्षत्रके उदयका उत्तरचर है । ७—इस पुरुषमें मिथ्या ज्ञान नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शनका सद्भाव है । यह विरुद्ध सहचरोपलब्धि हेतु है, क्योंकि सम्यग्दर्शन, मिथ्याज्ञानसे विरुद्ध सम्यग्ज्ञानका सहचर है ।

प्रतिषेधरूप हेतु भी दो प्रकारका है—विधिसाधक और निषेधसाधक । जो हेतु स्वर्यनिषेधरूप हो किन्तु विधिका साधक हो, वह 'विरुद्धानुपलब्धि' कहलाता है । उसके चाँच भेद हैं—

(१) साध्यविरुद्धकार्यानुपलब्धि (२) साध्यविरुद्धकारणानुपलब्धि (३) साध्यविरुद्धभूवानुपलब्धि (४) साध्यविरुद्धव्यापकानुपलब्धि (५) साध्यविरुद्धसहचरानुपलब्धि । इनके उदाहरण कमशः इस प्रकार हैं—

१—इस पुरुषमें रोगकी तीव्रता है, क्योंकि नीरोग व्यापारकी अनुपलब्धि है । २—इसको कष्ट है, क्योंकि इष्ट-संयोगका अभाव है । ३—वस्तु अनेकान्तात्मक है, क्योंकि एकान्त स्वभावकी अनुपलब्धि है । ४—यही छाया है, क्योंकि उष्णताकी अनुपलब्धि है । ५—इसमें मिथ्याज्ञान है, क्योंकि सम्यग्दर्शनकी अनुपलब्धि है । इन हेतुओंको पूर्वोक्त हेतुओंकी भाँति समझ लेना चाहिए ।

द्वितीयोऽविरुद्धानुपलब्धिनामा प्रतिषेध्याविरुद्धस्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वचरोऽस्त्रस्त्रुत्युपलब्धिहेतात् सप्तधा । यथा नास्त्यत्र भूतले कुम्भः, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तत्स्वभावस्यानुपलम्भात् । नास्त्यत्र पनसः, पादपानुपलब्धेः । नास्त्यत्राप्रतिहतशवितकम् बीजम्, अंकुरानवलोकनात् । न सन्त्यस्य प्रशमप्रभूतयो भावाः, तत्त्वार्थशङ्खानाभावात् । त्रोदगमिष्यति मूहतान्ते स्थाति, चित्रोदयादर्शनात् । त्रोदगमत्पूर्वभद्रपदा मूहतत्पूर्वम्, उत्तरभद्रपदोदगमानवगमात् । नास्त्यत्र सम्यग्जानम्, सम्यग्दर्शनानुपलब्धेरिति । सोऽयमनेकविधोऽन्यथानुपपत्येकलक्षणो हेतुरुक्तोऽतोऽन्यो हेत्वाभासः ।

(हेत्वाभासनिरूपणम्)

स त्रेधा—असिद्धिरुद्धानेकान्तिकभेदात् । तत्राप्रतीयमानस्वरूपो हेतुरसिद्धः । स्वरूपाप्रतीतिश्चाज्ञानात्सन्देहाद्विपर्याद्वा । **स द्विविधः—उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धश्च ।** आद्यो यथा शब्दः परिणामी चाक्षुष्यत्वादिति । द्वितीयो यथा अवेतनास्तरवः, विज्ञा-

जो हेतु स्वयं निषेध रूप हो और निषेधका ही साधक हो, वह 'अविरुद्धानुपलब्ध' हेत्वाद्यसे अविरुद्ध (१) स्वभावानुपलब्धि आदि उसके सात भेद कहे जाते हैं ।

१—स्वभावानुपलब्धि—इस भूतलपर कुंभ नहीं है, क्योंकि वह उपलब्धिके योर्य होने पर भी उपलब्ध नहीं हो रहा है । २—व्यापकानुपलब्धि—यहीं पनस नहीं है, क्योंकि वृक्ष नहीं है । ३—कार्यानुपलब्धि—यहीं अप्रतिहत शक्तिवाला—जिसमें सामर्थ्यमें कोई रुकावट न हो ऐसा बीज नहीं है, क्योंकि अंकुर नहीं देखा जाता है । ४—कारणानुपलब्धि—इस पुरुषमें प्रशम आदि भाव नहीं हैं, क्योंकि तस्वार्थ—शदाका अभाव है । ५—पूर्वचरानुपलब्धि—मूहतं के बाद स्वाति नक्षत्रका उदय नहीं होगा, क्योंकि इस समय चित्राका उदय नहीं है । ६—उत्तरचरानुपलब्धि—मूहतं से पहले पूर्वभद्रपदाका उदय नहीं हुआ है क्योंकि इस समय उत्तरभद्रपदाका उदय नहीं है । ७—सहचरानुपलब्धि—इस पुरुषमें सम्यग्जान नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन की अनुपलब्धि है ।

एक मात्र अन्यथानुपपत्ति लक्षणवाला हेतु अनेक प्रकारका कहा गया है । जो हेतु इससे निव्र है अर्थात् जिसमें निश्चित अन्यथानुपपत्ति नहीं है, वह हेतु नहीं, है हेत्वाभास है ।

हेत्वाभास— इसके तीन भेद हैं— (१) असिद्ध (२) विरुद्ध और (३) अनेकान्तिक । जिस हेतुका स्वरूप अप्रतीत हो । सिद्ध न हो, वह असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है । हेतुके रवरूप का ज्ञान न होनेसे, उसमें संदेह होनेसे या विपर्यय होनेसे उसकी अप्रतीति होती है ।

असिद्ध हेत्वाभास को प्रकार कहे हैं— उभयासिद्ध अर्थात् जो वादी और प्रतिवादी—दोनोंको सिद्ध न हो और अन्यतरासिद्ध अर्थात् जो दोनोंमें से किसी एक को सिद्ध न हो । शब्द परिणामी है, क्योंकि वह चक्षु इन्द्रियका विषय है, यह हेतु उभयासिद्ध है । 'वृक्ष अचेतन'

नेन्द्रियायुनिरोधलक्षणमरणरहितत्वात् अचेतनाः सुखादयः उत्पत्तिमत्त्वादिति वा ।

वन्वश्यतरासिद्धो हेत्वाभास एव नास्ति, तथा हि-परेणासिद्ध इत्थुद्ग्राविते यदि वादी न तत्साधकं प्रमाणभाचक्षीत, तदा प्रमाणभावादुभयोरथसिद्धः । अथाचक्षीत तदा प्रमाणस्थापथ्यातित्वादुभयोरपि सिद्धः । अथ यावज्ञ परं प्रति प्रमाणेन प्रसाध्यते, तावत्तं प्रत्यसिद्ध इति चेत्; गौणं तद्युसिद्धत्वम्, न हि रत्नादिपदार्थस्तत्त्वतोऽप्रतीयमानस्तावन्तमपि काले मुख्यतया तदाभासः । किञ्च, अन्यतरासिद्धो यदा हेत्वाभासस्तदा वादी निगृहीतः स्थात्, न च निगृहीतस्थ पश्चादनिग्रह इति युक्तम् । नापि हेतुसमर्थनं पश्चाद्युक्तम्, निग्रहान्तत्वाद्वादस्येति । अत्रोच्यते-यदा वादी सम्यग्घेतुत्वं प्रतिपद्यनानोऽपि तत्समर्थनन्यायविस्परणादिनिमित्तेन प्रतिवादिनं प्राप्तिनकान् वा प्रतिक्रोधयितुं न शब्दनोति, असिद्धतामपि नानुसन्यते, तदान्यतरासिद्धत्वेनैव निगृहीते । तथा, स्वयमनभ्युपगतोऽपि परस्य सिद्ध इत्येतावत् (इत्येतावत्) बोध-हैं क्योंकि वे विज्ञान, इन्द्रिय और आयुनिरोध रूप मरणसे रहित हैं, यह तथा 'मुख आदि अचेतन हैं, क्योंकि वे उत्पत्तिमान् हैं 'यह हेतु अन्यतरासिद्ध है । इनमें प्रथम जैनोंको और दूसरा साम्यको मिठ नहीं है ।

शङ्का—कोई हेत्वाभास अन्यतरासिद्ध हो ही नहीं सकता । वादीनं हेतुका प्रयोग किया और प्रतिवादीने उसमें असिद्धता दोषका उद्भावन किया । ऐसी स्थितिमें यदि वादी उसे सिद्ध करनेके लिये कोई प्रमाण उपस्थित न करे तो प्रमाण के अभावमें दोनोंके लिए ही वह असिद्ध हो जायगा, इसके विपरीत यदि वादी साधक प्रमाण उपस्थित कर दे तो दोनोंके लिये सिद्ध हो जायगा । प्रमाण पक्षापाती नहीं होता कि एकके लिये सिद्ध कर दे और दूसरे के लिये न करे । कदाचित् कहा जाय कि जबतक प्रतिवादीके प्रति प्रमाणसे सिद्ध नहीं किया गया तबतक उसके लिये असिद्ध होनेसे अन्यतरासिद्ध हेतु कहलाता है, तो यह असिद्धता गोण है, वास्तविक नहीं । कोई रत्न आदि पदार्थ जबतक रत्न आदिके रूपमें प्रतीत न हो तबतक वह वास्तवमें रत्नाभास नहीं कहा जा सकता । इसके अतिरिक्त अन्यतरासिद्ध यदि हेत्वा-भास है तो उसका प्रयोग वादीनेसे वादी निग्रहस्थानको प्राप्त हो जाएगा और निगृहीतका फिर अनिग्रह होना युक्त नहीं है । निगृहीत हो जानेके पश्चात् हेतुका समर्थन करना भी योग्य नहीं है, क्योंकि निगृहीत होनेपर वादका जन्त हो जाता है ।

समाधान—जब वादी सम्यक् हेतुको स्वीकार करता हुआ भी उसके समर्थन करनेवाली युक्तिके विस्मरण आदि किसी कारणसे प्रतिवादीको या प्राप्तिकों (सम्यों) को समझा नहीं सकता और अपने हेतुकी असिद्धता को भी स्वीकार नहीं करता, तब अन्यतरासिद्धसे ही वह निगृहीत हो जाता है । इसके अतिरिक्त, जिस हेतुको वादी स्वयं स्वीकार न करता हो किन्तु प्रतिवादीको सिद्ध है, ऐसा समझकर प्रयुक्त कर दे तो वह हेतु अन्यतरासिद्ध होता है

न्यस्तरे हेतुरन्यतरसिद्धो निर्ग्रहाधिकरणम्, यथा सांख्यस्य जैनं प्रति 'अचेतनाः सुखादय उत्पत्तिमत्त्वात् घटवत्' इति ।

साध्यविपरीतव्याप्तो विरुद्धः । यथा अपरिणामी शब्दः कृतकत्वाविति । कृत-कत्वं ह्यपरिणामित्वविरुद्धेन परिणामित्वेन व्याप्तमिति ।

पस्यान्यथानुपपत्तिः सन्दिग्हते सोऽनेकान्तिकः । स द्वेधा—निर्णीतविपक्षवृत्तिकः सन्दिग्हविपक्षवृत्तिकश्च । आद्यो यथा नित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् । अत्र हि प्रमेयत्वस्य वृत्तिनित्ये व्योमादौ सप्तम इव विपक्षेऽनित्ये घटावावपि निश्चिता । द्वितीयो यथा अभिमतः सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वादिति । अत्र हि वक्तृत्वं विपक्षे सर्वज्ञे संदिग्ध-वृत्तिकम्, सर्वज्ञः कि वक्ताऽऽहोस्त्वं विपक्षे सर्वज्ञे सन्देहात् । एवं स इयामो मित्रापुत्रत्वादि-त्याद्यप्युदाहार्यम् ।

अकिञ्चित्करत्त्वाल्पयश्चतुर्थोऽपि हेत्वाभासभेदो धर्मभूषणेनोदाहृतो न श्रद्धेयः । सिद्धसाधनो बाधितविषयइच्चेति द्विविधस्याप्यप्रयोजकाहृव्यस्य तस्य प्रतीत-निराकृता-ल्यपक्षाभासभेदानतिरिक्तत्वात् । न च यत्र पक्षदोषस्तत्रावश्यं हेतुदोषोऽपि वाच्यः, और वह निरग्रहका स्थान है । जैसे सांख्य, जैनोंके प्रति कहे—‘सुख आदि अचेतन है, क्योंकि वे उत्पत्तिमान् हैं’ जैसे वट । यहाँ उत्पत्तिमत्त्व स्वयं सांख्यको अभिमत नहीं है तथापि जैनों को अभिमत समझकर वह प्रयुक्त करता है । अतएव यह हेतु अन्यतरासिद्ध है ।

जो हेतु साध्यसे विपरीतके साथ व्याप्त हो वह विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है । जैसे-शब्द अपरिणामी है, क्योंकि वह कृतक है । यहाँ कृतकत्व हेतुकी अपरिणामित्व साध्यसे विरुद्ध परिणामित्वके साथ व्याप्ति है ।

जिस हेतुकी व्याप्ति संदिग्ध हो, वह अनेकान्तिक कहलाता है । इसके दो भेद हैं— (१) निर्णीतविपक्षवृत्तिक अर्थात् जिसका विपक्षमें रहना निश्चित हो और (२) संदिग्ध-विपक्षवृत्तिक अर्थात् जिसका विपक्षमें रहना संदिग्ध हो । ‘शब्द’ नित्य है, क्योंकि प्रमेय है । यह निर्णीतविपक्षवृत्तिक अनेकान्तिक हेत्वाभास है । यहाँ प्रमेयत्व हेतु जिस प्रकार आकाश आदि सप्तकमें रहता है, उसी प्रकार विपक्ष अनित्य घट आदिमें भी निश्चित रूपसे रहता है । ‘विवक्षित पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है’ यह संदिग्धविपक्षवृत्तिक है यहाँ वक्तृत्व हेतुका विपक्ष सर्वज्ञमें रहना संदिग्ध है, क्योंकि क्या सर्वज्ञ वक्ता होता है । अथवा नहीं ? ऐसा सन्देह होता है । इसी ‘प्रकार ‘गर्भस्थ मित्रपुत्र इयाम है, क्योंकि वह मित्राका पुत्र है’ इत्यादि उदाहरण भी यहाँ समझ लेने चाहिए ।

धर्मभूषणने अकिञ्चित्कर नामक चौथा हेत्वाभासका भेद बतलाया है । वह श्रद्धेय नहीं है । अकिञ्चित्करके दो भेद हैं—सिद्धसाधन और बाधितविषय । मगर यह दोनों प्रकारका अप्रयोजक हेत्वाभास प्रतीतपक्षाभास और निराकृतपक्षाभासमें अन्तर्गत हो जाता है । जहाँ

हृष्टान्तादिदोषस्याप्यवश्यं वाच्यत्वापत्तेः । एतेन कालात्ययापदिष्टोऽपि प्रत्युक्तो वेदितम्यः । प्रकरणसमोऽपि नातिरिच्यते, तुल्यबलसाध्यतद्विपर्ययसाधकहेतुद्वयरूपे सत्यस्मिन् प्रकृतसाध्यसाधनयोरत्यथानुपपत्त्यनिश्चयेऽसिद्ध एवान्तभविता दिति संक्षेपः ।

(५ आगमप्रमाणनिरूपणम्)

आप्तवचनादाधिभूतमर्यसंवेदनमागमः । न च व्याप्तिग्रहणबलेनार्थप्रतिपादकत्वादधूमवदस्यानुमानेऽन्तभविः, कूटाकूटकाषपिणप्रवणप्रत्यक्षवदभ्यासदशायां व्याप्तिग्रहणे रसेक्षणे वेदव्याप्तिर्वदोद्यत्वात् । यथास्थितार्थपरिज्ञानपूर्वकहितोपदेशप्रवण आप्तः, वर्णपदवाक्यात्मकं तद्वचनम्, वर्णोऽकारादिः पौद्गलिकः, पदं सज्जुतवत्, अन्योऽन्यापेक्षाणां पदानां समुदायो वाच्यम् ।

पक्ष—संबंधी दोष हो वहाँ हेतुमें भी अवश्य दोष होना चाहिए, ऐसा कहना उचित नहीं है । अगर पक्षके दोषसे हेतु दूषित माना जाय तब तो हृष्टान्त आदिके दोषसे भी हेतुमें दोष मानना पड़ेगा । इस कथनसे कालात्ययापदिष्ट नामक हेत्वाभासका भी निषेध समझ लेना चाहिए, क्योंकि वह भी निराकृतपक्षाभासमें सम्मिलित है । प्रकरणसमनामक हेत्वाभास भी पृथक् नहीं है जिस हेतुका तुल्यबलवाला विरोधी हेतु विद्यमान हो वह प्रकरणसम कहलाता है । साध्यको और साध्यविपर्ययको सिद्ध करनेवाले दोनों हेतुओंकी व्याप्ति निरिच्छन न होनेसे असिद्ध हेत्वाभासमें ही उनका अन्तभवि हो जाता है ।

५—जो वस्तुस्वरूपका यथार्थ जाता और यथार्थ बक्ता हो ऐसे आप्त पुरुषके वचनसे उत्पन्न होनेवाला पदार्थका संवेदन 'आगम' कहलाता है ।

वैशेषिकोंकी मान्यता है कि आगम प्रमाण तो है, किन्तु वह धूमानुमानकी तरह अनुमानमें ही अन्तर्गत है । जैसे अनुमान प्रमाण व्याप्ति—ग्रहणके बलसे अर्थका प्रतिपादन करना है, उसी प्रकार आगम भी । अतएव उसे पृथक् प्रमाण भहीं मानना चाहिए । उनकी मान्यता सभीकीम नहीं है । असली या नकली काषपिण (गिरका—विशेष) का निर्णय करनेवाला प्रत्यक्ष जैसे अन्यस्त (परिचित) दशामें व्याप्तिके ग्रहणकी अपेक्षा नहीं रखता और व्याप्तिग्रहणके विना ही अर्थबोधक होता है, उसी प्रकार अनुमान भी अभ्यासदशामें व्याप्तिग्रहणकी अपेक्षा नहीं रखता । अतएव अनुमानमें उसका अन्तभवि नहीं हो सकता । (अनव्यासदशामें जहाँ व्याप्तिग्रहणकी आवश्यकता रहती है वहाँ उसे अनुमानस्त माननेमें कोई बाधा नहीं ।)

जो पुरुष पदार्थके वास्तविक स्वरूपको जान कर हितका उपदेश करनेमें कुशल हो, वह आप्त कहलाता है । उसके वचन, वर्ण, पद और वाच्यरूप होते हैं । भागवर्गाके पुढ़गलोंसे बने हुए 'बकार' आदि वर्ण कहलाते हैं । जिसमें किसी अर्थका संकेत होमेंके अर्थात् जो वर्णसमूह सार्थक हो, वह पद कहलाता है । परस्पर सापेक्ष पदोंका समूह—जिसे अर्थबोध करानेमें किसी अन्य पदकी अपेक्षा न हो, वाच्य कहलाता है ।

तदिदमागमप्रमाणं सर्वत्र विधिप्रतिषेधान्यां स्वार्थमभिवद्धनं सप्तभंगीमनु-
गच्छति, तथेव परिपूर्णर्थप्रापकत्वलक्षणतात्त्विकप्रामाण्यनिवाहात्, क्वचिदेकभास्त्रदर्श-
नेऽपि व्युत्पन्नमतोनामितरभंगाक्षेपध्वौव्यात् । यत्र तु घटोऽस्तीत्यादिलोकवाक्ये
सप्तभंगीसंस्पर्शशून्यतर तत्रार्थप्रापकत्वमात्रेण लोकापेक्षया प्रामाण्येऽपि तत्त्वतो न
प्रामाण्यमिति द्रष्टव्यम् ।

(सप्तभंगीस्वरूपतत्त्वं)

केयं सप्तभंगोति चेदुच्यते—-गृहक्त्र वस्तुन्येककधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन
व्यस्तयोः समस्तयोऽच विधितिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराञ्जुतः सप्तधा वाक्प्रयोगः
भप्तभंगी । इयं च सप्तभंगी वस्तुनि प्रतिपर्यायं सप्तविधधर्मणां सम्भवत् सप्तविध-
संशयोत्थापितसप्तविधजिज्ञासामूलसप्तविधप्रश्नानुरोधादुपपद्यते । तत्र स्यादस्त्येव सर्व-
मिति प्राधायेन विधिकल्पनया प्रथमो भंगः । स्यात्-कथञ्चित् स्वद्वयक्तेत्रकालभाव-
पेक्षयेत्यर्थः । अस्ति हि घटादिकं द्रष्टव्यतः पाथिवादित्वेन, न जलरदित्वेन । भेत्रतः—

यह आगम प्रमाण सर्वत्र विधि और निषेधके द्वारा अपने प्रतिपाद्य विषयका प्रतिपादन
करता हुआ सप्तभंगीको प्राप्त होता है । सप्तभंगीके रूपमें ही वह पदार्थका पूर्णरूपसे निष्ठापण
कर सकता है और अपनी वास्तविकताका निर्बाह कर सकता है । आगममें कहीं-कहीं एक भग
ही देखा जाता है, तथापि बुद्धिमानोंको उस एक भगसे ही अन्य (छह) भंगोंको ममज लेना
चाहिए । 'घट है' इत्यादि लोकिकवाक्योंमें जहाँ सप्तभंगीका संस्पर्श नहीं है, वहाँ यह वाक्य
अर्थप्रापक होनेके कारण ही लोककी अपेक्षामात्रसे प्रमाण है, किन्तु उसमें तात्त्विक प्रमाणता नहीं है ।

सप्तभंगी—सप्तभंगी क्या है, यह बतलाते हैं । किसी भी एक वस्तुके एक-एक
धर्म-संबंधी प्रश्नके अनुगोष्ठसे, 'स्यात्' (कथञ्चित्) शब्दसे युक्त सात प्रकारका वचन-प्रयोग
सप्तभंगी कहलाता है । वह वचनप्रयोग विवक्षाओंकी भिन्नतासे इस प्रकार दिया जाता है कि
उसमें परस्पर विरोध न हो । किसीमें विधिकी कल्पना होती है, किसीमें अकेले निषेधकी
और किसीमें मिले हुए विधि-निषेधकी-दोनोंकी कल्पना होती है ।

एक वस्तुके एक पर्यायमें सात प्रकारके ही धर्म संभव हैं—उससे न्यून या अधिक नहीं,
अतएव सात प्रकारके ही संशय उत्पन्न होते हैं, सात ही प्रकारके संशय होनेका कारण यह है
कि जिज्ञासुको जिज्ञासाएँ सात प्रकारकी ही होती हैं । जब जिज्ञासाएँ सात प्रकारकी होती हैं
तो जिज्ञासाप्रेरित प्रश्न भी सात ही हो सकते हैं और चूंकि प्रश्न सात होते हैं, अतएव
उसके उत्तरस्वरूप भंग भी सात ही होते हैं । यहाँ अस्तित्व पर्यायको लेकर सात भंग दिखाते हैं—

१—स्यात् सब पदार्थ हैं ही, इस प्रकार प्रधान रूपसे विधिकी विवक्षासे प्रथम भंग
होता है । यहाँ 'स्यात्' का अर्थ है कथञ्चित् । अर्थात् सब पदार्थ अपने द्रष्टव्य, द्वेष, काल और
भावसे हैं जैसे घट द्रष्टव्यसे पाथिव रूपसे है अर्थात् मिट्टी आदिसे बना हुआ है, जलादिसे नहीं ।

पाटलिपुत्रकावित्वेन, न कान्यकुञ्जादित्वेन । कालतः शंशिरादित्वेन, न वासन्तिकादित्वेन । भावतः श्यामादित्वेन, न रक्तरादित्वेनेति । एवं स्यामास्त्वेव सर्वमिति प्राधान्येन निषेधकल्पनया द्वितीयः । न चासत्त्वं काल्पनिकम्; सत्त्ववत् तस्य स्वातन्त्र्येणानुभवात्, अन्यथा विष्णासत्त्वस्य तात्त्वकस्याभावेन हेतोस्त्रैरूप्यव्याघातप्रसंगात् । स्यादस्त्वेव स्यामास्त्वेति प्राधान्येन ऋमिकविधिनिषेधकल्पनया तृतीयः । स्यादबवक्तव्यमेवेति युगपत्राधान्येन विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः, एकेन पदेन युगपदुभयोर्बद्धुमशक्यत्वात् । शतृशानशौ सदित्यादौ सांकेतिकपदेनापि ऋमेणार्थद्वयबोधनात् । अन्यतरत्वादिना कथञ्चिद्दुभयबोधनेऽपि प्रातिस्त्रियकरूपेणकपदादुभयबोधस्य ब्रह्मणापि द्वुरूपपादत्वात् । स्यादस्त्वेव स्यादबवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः । स्यामास्त्वेव स्यादबवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठः । स्यादस्त्वेव स्यामास्त्वेव स्यादबवक्तव्यमेवेति विधिनिषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च सप्तम इति ।

क्षेत्रसे पाटलिपुत्रमें है, कान्यकुञ्जमें नहीं । कालसे शिशिर ब्रह्ममें है, वसन्तमें नहीं । भावसे श्याम है, रक्त नहीं । तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तुमें स्वद्रव्य-क्षेत्रका भावसे अस्तित्व होता ही है । २-कथंचित् सब पदार्थ नहीं हैं, इस प्रकार प्रधान रूपसे निषेधकी कल्पनासे द्वितीय भंग होता है । यहाँ 'कथंचित्' शब्दसे परद्रव्य-क्षेत्र-कालभाव समझना चाहिए, अर्थात् परद्रव्यादिसे सब वस्तुएँ असत् हैं । कोई असत्त्वको काल्पनिक मानते हैं सो ठीक नहीं है क्योंकि सत्त्वकी भाँति असत्त्व भी स्वतंत्र रूपसे अनुभवमें आता है । यदि असत्त्वको काल्पनिक माना जाय तो 'विष्णासत्त्व' (हेतुशा विष्ण-साध्याभावमें न रहना) भी वास्तविक न होगा । ऐसी स्थितिमें हेतुकी विरूपतामें गड़बड़ हो जाएगी । ३-कथंचित् सब पदार्थ हैं, कथंचित् नहीं हैं, इस प्रकार प्रधान रूपसे ऋमशः विधि और निषेधकी कल्पनासे तीसरा भंग होता है । ४-कथंचित् सब पदार्थ अवक्तव्य हैं, इस प्रकार एक साथ विधि और निषेधकी कल्पनासे चौथा भंग होता है । चौथे भंगको अवक्तव्य कहनेका कारण यह है कि किसी भी एक पदके द्वारा एक साथ अस्तित्व और नास्तित्व दोनोंका कथन करना शक्य नहीं है । शतृ और शानश् इन दोनों प्रत्ययों के लिए जो 'सत्' पद संकेतित किया गया है, वह भी कमसे ही दोनों प्रत्ययों का बोध कराता है—युगपद् नहीं । अन्यतरत्व आदिके द्वारा किसी प्रकार दोनोंका बोध हो भी जाय तो भी अलग-अलग नियत रूपसे एक पदसे दोनोंका बोध तीव्र होता भी नहीं करा सकता । ५-कथंचित् सब पदार्थ हैं और कथंचित् अवक्तव्य हैं, इस प्रैकार विधिकी विवक्षासे तथा एक साथ विधि-निषेधकी विवक्षासे पाँचवाँ भंग होता है । ६-कथंचित् सब पदार्थ नहीं हैं और कथंचित् अवक्तव्य हैं, इस प्रकार निषेध की तथा एक साथ विधि-निषेध की विवक्षासे छठा भंग होता है । ७-कथंचित् सब पदार्थ हैं, कथंचित् नहीं हैं और कथंचित् अवक्तव्य है, एवं कमसे विधि-निषेध और एक साथ विधि-निषेधकी कल्पनासे सातवाँ भंग होता है ।

सेयं सप्तभंगी प्रतिभंग (भंग) सकलादेशस्वभावा चिकलादेशस्वभावा च । तत्र प्रमाणप्रतिपन्नानन्तर्धर्मत्वकवस्तुनः कालादिभिरभेदवृसिप्राधान्यादभेदोपचाराद्वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः । नयविषयीकृतस्य वस्तुधर्मस्य भेदवृत्तिप्राधान्यादभेदोपचाराद्वा ऋमेणाभिधायकं वाक्यं चिकलादेशः । ननु कः क्रमः, कि वा यौगपद्यम् ? उच्यते—यदास्तित्वादिधर्मणां कालादिभिरभेदविवक्षा तदेकशब्दस्यानेकार्थप्रत्यायने शक्त्यभावात् क्रमः । यदा तु तेषामेव धर्मणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते तदैकेनापि शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकतामापन्नस्यानेकाशेषरूपस्य वस्तुनः प्रतिपादनसम्भवाद्यौगपद्यम् ।

के पुनः कालादयः ? । उच्यते—काल आत्मरूपमर्थः सम्बन्ध उपकारः गुणदेशः संसर्गः शब्द इत्यष्टौ । तत्र स्थाज्जीवात् वस्त्वस्त्वेवेत्यत्र यत्कालमस्तित्वं त्वत् (तत्)

यह सातभंगी, प्रत्येक भंगमें दो प्रकारकी है—सकलादेश स्वभाववाली और चिकलादेश स्वभाववाली । प्रमाणसे सिद्ध अनन्त धर्मोदाली वस्तुको काल आदिके द्वारा अभेदकी प्रधानतासे अभेदका उपचार करके युगपद—एक साथ प्रतिपादन करनेवाला वचन सकलादेश कहलाता है तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तुमें अनन्त धर्म है, अतएव उसका पूर्ण रूपसे प्रतिपादन करनेके लिए अनन्त शब्दोंका प्रतिपादन करना चाहिए, वयोंकि एक शब्द एक ही धर्मका प्रतिपादन कर सकता है भगव ऐसा करना शक्य नहीं है । हम एक शब्दका प्रयोग करते हैं । वह एक शब्द मुस्य रूपसे एक धर्मका प्रतिपादन करता है और धर्म वचे हुए धर्मोंको उस एक धर्मसे अभिन्न मान लेते हैं । इस प्रकार एक शब्दसे एक धर्मका प्रतिपादन हुआ और उससे अभिन्न होनेके कारण शाय धर्मोंका भी प्रतिपादन हो गया । इस उपायसे एकही शब्द एक साथ अनन्त धर्मोंका अर्थात् सम्पूर्ण वस्तुका प्रतिपादक हो जाता है । यही सकलादेश है ।

नयके विषयमूल धर्मका, काल आदिके द्वारा भेदकी प्रधानतासे अथवा भेदका उपचार करके, क्रमसे प्रतिपादन करनेवाला वाक्य चिकलादेश कहलाता है ।

प्रदन—क्रम और यौगपद्यका क्या अर्थ है ? उत्तर—जब अस्तित्व आदि धर्मोंकी काल आदिके आधारसे भेदविवक्षा की जाती है, उस समय एक शब्द अनेक अर्थों—धर्मोंका प्रतिपादन करनेमें समर्थ नहीं होता, अतएव क्रम होता है । किन्तु जब उन्हीं धर्मोंका कालादिके आधारसे अभिन्न स्वरूप कहा जाता है, तब एक ही शब्द एक धर्मका प्रतिपादन करता हुआ, तद्रूप उने हुए अन्य समस्त धर्मत्वक वस्तुका प्रतिपादन कर देता है, यही यौगपद्य कहलाता है ।

प्रश्न—जिन काल-आदिके आधार पर एक धर्मका अन्य धर्मोंसे अभेद या भेद किया जाता है, वे कौन-कौन हैं ? उत्तर—(१) काल (२) आत्मरूप (३) अर्थ (४) सम्बन्ध (५) उपकार (६) गुणदेश (७) संसर्ग और (८) शब्द, ये आठ हैं । इन आठोंके आधारसे

काला: शेषानन्तर्धर्मा वस्तुन्येकत्रेति सेषां कालेनाभेदवृत्तिः । यदेव चास्तित्वस्य तद्-गुणत्वमात्मरूपं तदेवान्यामन्तर्गुणानामपीत्यात्मरूपेणाभेदवृत्तिः । य एव चाधारे (रो) इथो द्रव्याख्योऽस्तित्वस्य स एवान्यपयविषयाणामित्यर्थेनाभेदवृत्तिः । य एव चाविष्व-भावः सम्बन्धेऽस्तित्वस्य ह एवान्येषाभिति तस्मान्धेनत्वेऽवृत्तिः । य एव चोपकारो-अस्तित्वेन स्वानुरक्तत्वकरणं स एवान्येरपीत्युपकारेणाभेदवृत्तिः । य एव गुणितः सम्बन्धी देशः क्षेत्रलक्षणोऽस्तित्वस्य संसर्गः स एवान्येषाभिति गुणिदेशेनाभेदवृत्तिः । य एव चैकवस्तवात्मनाऽस्तित्वस्य संसर्गः स एवान्येषाभिति संसर्गेणाभेदवृत्तिः । गुणीभूत-भेदादभेदप्रधानात् सम्बन्धाद्विपर्ययेण संसर्गस्य भेदः । य एव चास्तीति शब्दोऽस्ति-त्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः स एवाशेषानन्तर्धर्मात्मकस्थापीति शब्देनाभेदवृत्तिः, पर्यायाधिकनयगुणभावेन द्रव्याधिकनयप्राधान्यादुपपद्यते । द्रव्याधिकगुणभावेन पर्या-याधिकप्राधान्ये तु न गुणानामभेदवृत्तिः सम्भवति, समकालमेकत्र नानागुणानामसम्भ-वात्, सम्भवे वा तदाश्रयस्य भेदप्रसङ्गात् । नानागुणानां सम्बन्धित आत्मरूपस्य च भिन्नत्वात्, अन्यथा तेषां भेदविरोधात्, स्थाश्रयस्यार्थस्यापि नानात्वात्, अन्यथा

अभेद वृत्ति इस प्रकार होती है— (१) 'कथंचित् जीवादि वस्तु हैं ही' यहाँ जिस कालमें जीवादिमें अस्तित्व है उसी कालमें उनमें शेष अनन्त धर्म भी हैं यह कालसे अभेद वृत्ति है । (२) जीवादिका गुण होना जैसे अस्तित्वका आत्मरूप स्वरूप है, उसी प्रकार अन्य अनन्त गुणोंका भी यही आत्मरूप है यह आत्मरूपसे अभेद वृत्ति है । (३) जो द्रव्यरूप अर्थ अस्ति-त्वका आधार है वही अन्य धर्मोंका भी आधार है । (४) जीवादिके साथ अभेद रूप जो संबंध अस्तित्वका है, वही संबंध अन्य धर्मोंका भी है । यह संबंधसे अभेद वृत्ति है । (५) अस्तित्व धर्म जीवादिका जो उपकार करता है—अपनेसे युक्त बनाता है, वही उपकार अन्य धर्म भी करते हैं । यह उपकारसे अभेद वृत्ति है । (६) अस्तित्व धर्म जीवादिमें जिस देशमें रहता है, उसीमें अन्य धर्म भी रहते हैं । यह गुणिदेशसे अभेद वृत्ति है । (७) अस्तित्वका जीवादिके साथ एक वस्तु रूपसे जो संसर्ग है, वही अन्य धर्मोंका भी संसर्ग है । यह संसर्गसे अभेद वृत्ति है । (८) 'अस्ति' (है) यह शब्द अस्तित्वधर्मात्मक वस्तुका वाचक है, वही अन्य अनन्तधर्मात्मक वस्तु का भी वाचक है । यह शब्दसे अभेद वृत्ति है । यह अभेद वृत्ति पर्यायाधिक नयको गोण और द्रव्याधिक नयको मुख्य करने पर होती है । किन्तु जब द्रव्याधिक नय गोण और पर्यायाधिक नय मुख्य होता है तब अभेद वृत्ति संभव नहीं है । वयों कि— (१) एक ही कालमें, एक वस्तुमें, नाना गुण संभव नहीं हैं । अगर संभव हों तो उससे अधारभूत वस्तुमें भी भेद हो जायगा । (२) नाना गुणोंसंबंधी आत्मरूप मिश्र-भिन्न होता है । अगर भिन्न न हो तो गुणोंमें भेद नहीं हो सकता । (३) नाना गुणोंका आधारभूत

नानागुणाशयत्वविरोधात् । सम्बन्धस्य च सम्बन्धभेदेभ भेददर्शनात्, नानासम्बन्धि-
भिरेकश्चेकसम्बन्धाद्यटनात् । तेः क्रियमाणस्योपकारस्य च प्रतिनियतरूपस्यानेकत्वात्,
अनेकंरूपकारिभिः क्रियमाणस्योपकारस्यंकस्य विरोधात् । गुणिदेशस्य च प्रतिगुणं
भेदात्, तदभेदे भिन्नार्थगुणानामपि गुणिदेशाभेदप्रसङ्गात् । संसर्गस्य च प्रतिसंसर्गि
भेदात्, तदभेदे संसर्गिभेदविरोधात् । शब्दस्य प्रतिविषयं नानात्वात्, सर्वगुणानामे-
कशब्दवाच्चप्रतायां सब्धिर्नामेकशब्दवाच्यतापत्तेरिति कालादिभिन्नात्मनामभेदोप-
चारः क्रियते । एवं भेदवृत्तितदुपचारादपि वाच्याविति । पर्यवसितं परोक्षम् । ततश्च
निरूपितः प्रमाणपदार्थः ।

इति महामहोपाध्यायश्चीकल्याणविजयशिख्यमुल्यपण्डितश्रीलाभविजयगणिशिख्यावतंस-
पण्डितश्रीलाभविजयशिख्यपण्डितश्रीनयविजयगणिशिख्येण
पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेण पण्डितयशोविजयगणिना
कृतायां जैनतर्कभाषायां प्रमाणपरिच्छेदः सम्पूर्णः ।

पदार्थ भी नानारूप ही हो सकता है । वह नानारूप न हो तो नानागुणोंका आधार भी नहीं
हो सकता । (४) संबंधियोंकी भिन्नतासे संबंधमें भी भेद देखा जाता है । संबंधी अनक हों
और उनका संबंध एकत्र और एक हो, यह नहीं हो सकता । (५) अनेक धर्मोंके द्वारा किया
जाने वाला उपकार अलग—अलग होनेसे अनेक रूप ही होता है, वयों कि अनेक उपकारियों
द्वारा किया जाने वाला उपकार एक नहीं हो सकता । (६) प्रत्येक गुणका गुणिदेश पथक-
पथक ही होता है । अगर अनेक गुणोंका गुणिदेश अभिन्न माना जाय तो भिन्न-भिन्न पदार्थोंके
गुणों के गुणिदेशमें भी अभेद मानना पड़ेगा । (७) संसर्गिकि भेदसे संसर्गमें भी भेद होता है ।
संसर्गमें भेद न हो तो संसर्गियों (गुणों) में भी भेद नहीं हो सकता । (८) विषयके भेदसे
शब्दमें भी भेद होता है । यदि समस्त गुण एकही शब्दके बाच्य हों तो संसारके समस्त पदार्थ
भी एक ही शब्दके बाच्य हो जाएँ । इस प्रकार कालादिसे भिन्न गुणोंमें अभेदका उपचार
किया जाता है । इसी तरह भेदवृत्ति और भेदका उपचार भी समझ लेना चाहिए ।

परोक्ष प्रमाणका निरूपण पूर्ण हुआ और प्रमाणका निरूपण भी समाप्त हुआ ।

२. नयपरिच्छेदः ।

(नयानां स्वरूपनिरूपणम् ।)

प्रमाणान्युक्तानि । अथ नया उच्यन्ते । प्रमाणपरिच्छेदस्यानन्तर्धर्मात्मकस्य वस्तुन एकदेशग्राहिणस्तदितरांशाप्रतिक्षेपिणोऽध्यदसायविशेषाः नयाः । प्रमाणंकदेश-त्वात् तेषां ततो भेदः । यथा हि समुद्रेकदेशो न समुद्रो नाप्यसमुद्रस्तथा नया अपि न प्रमाणं न बाऽप्रमाणमिति । ते च द्विधा-द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकभेदात् । तत्र प्राधा-न्धेन द्रव्यमात्रप्राही द्रव्यार्थिकः । प्राक्षण्येन पर्यायमात्रणाही पर्यायार्थिकः । तत्र द्रव्या-र्थिकस्त्रिधा नैगमसंग्रहव्यवहारभेदात् । पर्यायार्थिकश्चतुर्धा ऋजुसूत्रशब्दसमभिरुद्धं भूतभेदात् । ऋजुसूत्रो द्रव्यार्थिकस्थेष भेद इति तु जिनभद्रगणिकमाध्यमणाः ।

तत्र सामान्यविशेषाद्यनेकधर्मोपनयनपरोऽध्यवसायो नैगमः, यथा पर्याययोद्भवयोः पर्यायद्रव्ययोऽस्त्र मुख्यामुख्यरूपतया विवक्षणपरः । अत्र सच्चैतन्यमात्मनीति पर्याययोर्भूत्यामुख्यतयाविवक्षणम् । अत्र चैतन्यत्वस्य व्यञ्जनपर्यायस्य विशेष्यत्वेन

नयपरिच्छेद (नयोंका स्वरूप)

प्रमाणोंका स्वरूप कहा जा चुका है, अब नयोंका कथन किया जाता है ।

भुतप्रमाण के द्वारा गृहीत अनन्त धर्मात्मक वस्तुके एक देश-धर्म-को ग्रहण करनेवाला किन्तु उस गृहीत धर्मसे इतर धर्मोंका निषेध या विरोध न करनेवाला अभिप्राय नय कहलाता है ।

प्रमाण अनन्तधर्मात्मक समस्त वस्तुका ग्राहक होता है जब कि नय केवल एक धर्मको ग्रहण करता है । इस कारण नय, प्रमाणका एक अंश है । यही प्रमाण और नयमें अन्तर है । जैसे समुद्रका एक अंश न समुद्र कहा जा सकता है और न असमुद्र ही; इसी प्रकार नय न प्रमाण है और न अप्रमाण है—वह प्रमाणका एक अंश है ।

नयके दो भेद हैं—(१) द्रव्यार्थिक नय और (२) पर्यायार्थिकनय । प्रधान रूपसे केवल द्रव्यको ही ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिक और प्रधान रूपसे पर्याय मात्रका ग्राहक पर्यायार्थिक नय है । द्रव्यार्थिकनय तीन हैं— (१) नैगम (२) संग्रह और (३) व्यवहार । पर्यायार्थिक नय चार प्रकारके हैं—(१) ऋजुसूत्र (२) शब्द (३) समभिरुद्ध और (४) एवंभूत । किन्तु जिनभद्रगणि क्षमात्रमणके मतसे ऋजुसूत्र नय द्रव्यार्थिक नयका ही भेद है ।

(१) सामान्य तथा-विशेष आदि बनेक धर्मोंको ग्रहण करनेवाला अभिप्राय नैगमनय कहलाता है । यह नय दो द्रव्योंमेंसे, दो पर्यायोंमेंसे तथा द्रव्य एवं पर्यायमेंसे किसी एकको मुख्य और दूसरेको गौण कर देता है । जैसे—(अ) ,आमामें मत् चैतन्य है' यहाँ सत्य और चैतन्य, यह दोनों पर्याय हैं, किन्तु चैतन्य रूप व्यञ्जन पर्यायको विशेष्य बनाकर मुख्यता

मुख्यत्वात्, सत्त्वाख्यस्य तु विशेषणत्वेनामुख्यत्वात् । प्रवृत्तिनिवृत्तिनिबन्धनार्थक्रियाकारित्वोपलक्षितो व्यञ्जनपर्यायः । भूतभवित्यत्वसंस्पर्शरहितं वर्तमानकालावच्छिष्ठं वस्तुस्वरूपं चार्थपर्यायः । वस्तु पर्यायबद्धत्वमिति द्रव्ययोर्मुख्यामुख्यतया विवक्षणम्, पर्यायबद्धत्वाख्यस्य धर्मिणो विशेष्यत्वेन प्राधान्यात्, वस्त्वाख्यस्य विशेषणत्वेन गौणत्वात् । क्षणमेकं सुखी विषयासक्तजीव इति पर्यायद्रव्ययोर्मुख्यामुख्यतया विवक्षणम् । अत्र विषयासक्तजीवाख्यस्य धर्मिणो विशेष्यत्वेन मुख्यत्वात्, सुखलक्षणस्य तु धर्मस्य तद्विशेषणत्वेनामुख्यत्वात् । न चैव द्रव्यपर्यायोभ्यावगाहित्वेन नैगमस्य प्रामाण्यप्रसंगः, प्राधरन्येन सदुभयावगाहिन एव ज्ञानस्य प्रमाणत्वात् ।

सामाख्यभात्रग्राही परामर्शः संग्रह—स द्वेषा, परोऽपरश्च । तथा विशेषविशेषेष्वौ-दासीन्थं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभिभूयमानः परः संग्रहः । यथा विश्वमेकं सद्विशेषादिति । द्रव्यत्वादीन्यवान्तरसामान्यानि सन्वानस्तदभेदेषु गजनिमीलिकामवल-अदान दी गई है और सरलत्वादिको विशेषण बनाकर गौण कर दिया गया है । जिसमें प्रवृत्तिया निवृत्तिरूप अर्थक्रियाकी जा सकती हो, वह व्यंजन पर्याय है । (यह पर्याय व्यक्त होनेसे छविस्थोंके अनुभवमें आसक्ती है, और विकाल वर्ती होती है ।) किन्तु जो पर्याय भूत और भवित्यत् कालके स्पर्शसे रहित है—सिर्फ वर्तमानकालमें ही—एक समय मात्र ही रहता है, वह अर्थपर्याय कहलाता है । (आ) 'वस्तुपर्यायवाला द्रव्य है' यहाँ दो द्रव्योंमेंसे एकको मुख्य और दूसरेको अमुख्य विवक्षित किया गया है । 'पर्यायवान् द्रव्य' रूप धर्मीको विशेष बनाकर प्रधानता दी गई है और 'वस्तु' को विशेषण बनावर गौण कर दिया गया है । (इ) 'विषयासक्त जीव एक क्षण सुखी होता है' यहाँ पर्याय और द्रव्यमेंसे एकको प्रधान और एकको गौण कर दिया गया है । 'विषयासक्त जीव' धर्मी विशेष होनेके कारण प्रधान है और 'सुख' धर्म उसका विशेषण होनेसे अप्रधान हो गया है ।

तय एक ही अंशका ग्राहक होता है, किन्तु नैगमनय द्रव्य और पर्याय-दोनों अंशोंका ग्राहक है, अतएव उसे नय न मान कर प्रमाण मानना चाहिए; यह कहना ठीक नहीं । प्रमाण वही ज्ञान माना जाता है जो द्रव्य और पर्याय दोनोंको प्रधान रूपमें ग्रहण करता हो । नैगमनय एकको प्रधान और दूसरेको अप्रधान रूपमें ग्रहण करता है इस कारण प्रमाण नहीं कहा जा सकता ।

(२) सिर्फ सामान्यको ग्रहण करनेवाला अभिप्राय संग्रहनय कहलाता है । ग्राहय विषयके भेदसे संग्रहनय दो प्रकारका है—परसंग्रह और अपुरसंग्रह । जो अभिप्राय समस्त विशेषोंमें उदासीनता धारण करता है और शुद्ध द्रव्य 'सत्ता' परसामान्य को ही स्वीकार करता है, वह परसं ग्रहण कहलाता है; जैसे—विश्व एक रूप है क्योंकि सत्से अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है । द्रव्यत्व आदि अपर सामान्योंको स्वीकार करनेवाला और उनके भेदों

स्वमानः पुनरपरसंग्रहः । संग्रहेण गोचरीकृतानामथनां विधिपूर्वकभवहरणं येताभि-
सन्धिना । क्रियते स व्यवहारः । यथा यत् सत् तद् द्रव्यं पर्यायो वा । थद् द्रव्यं तज्जी-
वादि घडविधम् । यः पर्यायः स हिविधः—कमभावी सहभावी चेत्यादि ।

ऋजु वर्तमानक्षणस्थायिषयिमात्रं प्राधान्यतः सूचयन्नभिप्राय ऋजुसूत्रः । यथा
सुखविवर्तः सम्प्रत्यस्ति । अत्र हि क्षणस्थायि सुखाल्यं पर्यायिमात्रं प्राधान्येन प्रदर्श्यते,
तदधिकरणभूतं पुनरात्मद्रव्यं गौणतया नार्यत इति ।

कालादिभेदेन इवन्नेरर्थभेदं द्रव्यसंग्रहापुरुषो-
पसर्गः कालादयः । तत्र बभूत भवति भविष्यति सुमेरुरितप्रत्रातीतादिकालभेदेन
सुमेरोभेदप्रतिपत्तिः करोति क्रियते कुम्भ इत्यादी कारकभेदेन, तटस्तटी तटस्तियादी
लिङभेदेन, दाराः कलत्रमित्यादौ संख्याभेदेन, यास्यसि त्वम्, यास्यति भवानित्यादी
पुरुषभेदेन, सन्तिष्ठते अवतिष्ठते इत्यादावुपसर्गभेदेन ।

(विशेषों) के प्रति उपेक्षा धारण करनेवाला इष्टिकोण अपरसंग्रहनय है । (३) संग्रहनयके
विषयभूत पदार्थोंमें विधिपूर्वक भेद करनेवाला अभिप्राय व्यवहारनय है । यथा जो सत् है
वह या तो द्रव्य होता है या पर्याय । और जो द्रव्य है उसके जीवादि छह भेद हैं । पर्याय
भी दो प्रकारका है—कमभावी और सहभावी पर्याय, इत्यादि । तात्पर्य वह है कि वस्तुमें
एकत्र (सामान्य) और अनेकत्र (विशेष) दोनों धर्म विद्यमान हैं । संग्रहनय उनमेंसे
एकत्रको प्रहृण करता है और व्यवहारनय उनमें अनेकत्र खोजता है । (४) ऋजु अर्थात्
सिफे वर्तमानकालवर्ती पर्यायको मान्य करनेवाला अभिप्राय ऋजुसूत्रनय है, यथा—इस समय
सुखपर्याय है । यही क्षणस्थायी सुख नामक पर्यायको प्रधान माना गया है किन्तु उसके आधार
आत्मद्रव्य को गौण कर दिया है अतः विवक्षित नहीं किया गया है । (५) काल, कारक,
लिङ, वचन, पुरुष और उपसर्ग (प्र, पर, सम् आदि) का भेद होनेसे जो शब्दके अर्थमें भेद
स्वीकार करता है, वह शब्दनय कहलाता है । यथा—(अ) कालभेद—सुमेरु था, है और होगा
यहाँ अतीत, वर्तमान और भविष्यत् कालके भेदसे यह नय सुमेरुको भिन्न-भिन्न मानता है ।
(आ) कारकभेद—कुंभार घटको बनाता है, कुंभारके द्वारा घट बनाया जाता है; यहाँ
कर्तृकारक और करणकारकके भेदसे घटमें भेद मानता है । (इ) लिङभेद—तट, तटी, (या
पोथा और पोथी), यहाँ पुंलिंग और स्त्रीलिंगके भेदसे तट और तटीमें भेद मानता है ।
(ई) वचनभेद—‘दारा’ पद बहुवचनात् है और ‘कलत्रम्’ एक वचनात् है । यद्यपि
दार और कलत्र शब्द एक ही अर्थ—पत्नीक वाचक हैं, मगर वैचनभेदके कारण यह नय
दोनोंका अर्थ पृथक्-पृथक् मरनता है । (ङ) पुरुषभेद—‘यास्यसि त्वम्, यास्यति भवान्’ यहाँ
मध्यमपुरुष और प्रथमपुरुषके भेदसे भेद मानता है । (ऊ) उपसर्गभेद—‘सन्तिष्ठते’ ‘अवतिष्ठते’
इत्यादिपदोंमें मूलशब्दात् एक ही होने पर भी ‘सम्’ और ‘अव’ उपसर्गोंके भेदके कारण शब्द-
नय अर्थ में भेद स्वीकार करता है ।

पर्यायशब्देषु निरुक्तभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरुदः । शब्दनयो हि पर्यायभेदेऽप्यथागीदग्भित्रेति, सामग्रिस्तत्तु कर्तव्यस्त्रेते नित्यानव्यनिभिमन्यते । अभेदं त्वर्थगतं पर्यायशब्दान्वासुपेक्षत इति, यथा इन्द्रनाविन्द्रः, शक्ननाच्छकः, पूर्वरिणात्पुरन्वर इत्यादि ।

शब्दानां स्वप्रत्रृतिनिमित्तभूतक्रियाविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवम्भूतः । यथेन्दनमनुभवन्निन्द्रः । समभिरुदनयो हीन्दनादिक्रियायां सत्यामस्त्यां च वासदादेर्थस्येन्द्रादिव्यपदेशमभिप्रेति, क्रियोपलक्षितसामान्यस्थैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वात्, पशुविशेषस्य गमनक्रियायां सत्यामस्त्यां च गोद्यपदेशवत्, तथाणुदेः सद्भावात् । एव म्भूतः पुनरिन्दनादिक्रियायरिणतमर्थं तत्क्रियाकाले इन्द्रादिव्यपदेशभाजमभिमन्यते । न हि कश्चिदक्रियाशङ्कोऽस्यास्ति । गौरइव इत्याविजातिशब्दाभिमतानामपि क्रिया शब्दत्वात्, गच्छतीति गौः, आशुगामित्वादइव इति । शुक्लो, नील इति गुणशब्दाभिमता अपि क्रियाशब्दाः एव, शुचीभवनाच्छुक्लो, नीलनास्त्रील इति । देवदत्तो यज्ञदत्त

(६) निरुक्ति (व्युत्पत्ति) के भेदसे पर्यायवाची शब्दोंके अर्थ में भेद स्वीकार करनेवाला हृष्टिकोण समभिरुदनय कहलाता है। शब्दनय पर्यायवाचक शब्दोंका (यदि उनमें लिंगभेद आदि न हों तो) अर्थ एक ही मानता है, किन्तु यह समभिरुदनय पर्यायभेदसे ही भेद मानता है। पर्यायवाची शब्दों में अर्थगत जो अभेद है, उसको यह उपेक्षा करता है। यथा—शब्दनयका हृष्टिके इन्द्र, शक्नेन्द्र और पुरन्दर—इन तीनों शब्दोंका एक ही अर्थ है, किन्तु समभिरुदनय भिन्न—भिन्न अर्थ मानता है—जो इन्दनक्रिया करे वह इन्द्र, जो शक्नक्रिया करे वह शक और जो शत्रुनगरको विदारण करे वह पुरन्दर ।

(७) शब्दोंकी प्रवृत्तिकी निमित्तरूप क्रियासे युक्त पदार्थको ही शब्दोंका वाच्य स्वीकार करने वाला अभिग्राय एवंमूलनय कहलाता है । यथा—जब इन्दनक्रियाका अनुभव कर रहा हो तभी वह इन्द्र कहलाता है (किसी अन्य क्रियाको करते समय नहीं ।) समभिरुदनय इन्दनक्रियाकी विद्यमानता होने पर अप्रका न होने पर भी देवोंके स्वामीको 'इन्द्र' शब्द का वाच्य मानता है, क्योंकि उसके मतानुसार क्रियायुक्त सामान्य ही शब्दका प्रवृत्ति—निमित्त है, जैसे गमनक्रियाके होने अथवा न होनेपर भी सास्तादिमान् पशुको 'गो' कहा जाता है । गमन—क्रियान होने पर भी गाय रुदिसे 'गो' कहलाती है । लेकिन एवंमूलनय इस मान्यताको स्वीकार नहीं करता । वह तो इन्दनक्रियायुक्त पदार्थको उस क्रियाके काल में ही 'इन्द्र' कहता है ।

एवंभूतनयकी हृष्टि में ऐसा कोई शब्द नहीं है जो क्रियावाचक न हो । (१) 'गो' 'अश्व' आदि शब्द, जो जातिवाचक समझे जाते हैं वे भी कास्तव में क्रियाशब्द हैं—जो गमन करे सो गो, आशु (शीघ्र) गमन करे सो अश्व । इसी प्रकार (२) गुणवाचक माने जाने वाले 'शुक्ल' नील आदि शब्द भी क्रियाशब्द हैं—युचि होनेसे 'शुक्ल' और नीलन करनेसे 'नील'

इति यद्युच्छाशब्दाभिमता अपि क्रियाशब्दा एव, देव एवं वेदात्, यज्ञ एवं देयाविति । संयोगिद्रव्यशब्दः समवाय (यि) द्रव्यशब्दाश्चाभिमत्ताः क्रियाशब्दा एव दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी, विषाणमस्यास्तीति विषाणीत्यस्तिक्रियाप्रधानत्वात् । पञ्चतयो तु शब्दानां व्यवहारमात्रात्, न तु निश्चयावित्ययं नयः स्वीकुरुते ।

एतेष्वाद्याश्चत्वारः प्राधान्येनार्थगोचरत्वादर्थनयाः अन्त्यास्तु नयः प्राधान्येन शब्दगोचरत्वाच्चाश्चत्वात्ययाः । तथा विशेषग्राहिणोऽपितनयाः, सामान्यग्राहिणश्चान्पितनयाः । तत्रानपितनयमते तुल्यमेव रूपं मर्येषां सिद्धानां भगवताम् । अपितनयमते त्वेकद्वित्यादिसमयसिद्धाः स्वसमानसमयसिद्धैरेव तुल्या इति । तथा, लोकप्रतिद्वार्यानुवाकपरो व्यवहारनयः, यथा पञ्चस्थपि वर्णेषु ऋमरे सत्सु श्यामो ऋमर इति व्यपदेशः । तात्त्विकार्थाभ्युपगमपरस्तु विश्चयः, स पुनर्मन्यते पञ्चवर्णो ऋमरः, बादरस्कन्धत्वेन तच्छरीरस्य पञ्चवर्णपुद्गलंनिष्पन्नत्वात्, शुक्लादीनां च न्यामूत्त्वेनानुपलक्षणात् ।

कहा जाता है । (३) 'देवदत्त' या 'यज्ञदत्त' आदि यद्युच्छाशब्द भी क्रियाशब्द ही हैं—देव जिसे दे वा यज्ञ जिसे दे अर्थात् देव या यज्ञ द्वारा जो दिया गया हो वह देवदत्त या यज्ञदत्त कहलाता है । (४) संयोगिद्रव्यशब्द और (५) समवायिद्रव्यशब्द भी क्रियाशब्द ही हैं, जैसे 'दण्डी' और 'विषाणी' शब्द । क्योंकि इनमें भी दण्ड और विषाणके 'होने' क्रियाकी प्रधानता है । शब्दोंके जो उत्तरुक्त पाँच प्रकार माने जाते हैं, वह इस नयके अभिप्रायसे व्यवहार मात्र हैं, निश्चयसे पाँच भेद नहीं हैं ।

इन सात नयोंमें आदिके चार अर्थनय हैं क्योंकि वे प्रधानरूपसे अर्थं (पदार्थ) के संबंधमें ही विचार करते हैं और अन्तिम तीन नय शब्दनय हैं क्योंकि वे मुख्य रूपसे शब्दके संबंधमें विचार करते हैं ।

आन्यान्य हृषियोंसे नयोंके हूँसरे प्रकारसे भी भेद किये गये हैं । जैसे—विशेषग्राही व्यपितनय और सामान्यग्राही अनपितनय कहलाते हैं । अनपितनयके अभिप्रायसे सब सिद्धोंका स्वरूप समान है । अपितनयके मतसे एकसमयसिद्धों, द्विसमयसिद्धों या त्रिसमयसिद्धोंका अर्थात् समानसमयके सिद्धोंका स्वरूप ही समान है, विभिन्न समय सिद्धों का स्वरूप समान नहीं है ।

तथा लोकप्रतिद्वारा अर्थका अनुभव करनेवाला अर्थात् लोकप्रतिसिद्धिका अनुकरण करके वस्तुका कथन करनेवाला नय व्यवहारनय कहलाता है । जैसे ऋमरमें पाँचों वर्ण होने पर भी ऋमरको श्याम कहना । तात्त्विक पदार्थका स्वीकार करनेवाला नय 'निश्चय नय कहलाता है । निश्चयनयकी मान्यताके अनुसार ऋमरमें पाँचों वर्ण विद्यमान हैं, क्योंकि उसका शरीर बादरस्कन्ध होनेके कारण पाँचों वर्णोंके पुद्गलोंसे बना है । किन्तु शुक्ल आदि अन्य वर्णवाले पुद्गल कम होनेसे वे हमारी प्रतीतिमें नहीं आते ।

क्षणात् । अथवा एत्वं ग्रहस्तर्थगत्वा ही व्यवहारः, सर्वनयमत्तर्थगत्वा ही च निश्चयः । न चैव निश्चयस्य प्रमाणत्वेन नयत्वव्याधातः, सर्वनयमत्तस्यापि स्वार्थस्य तेन प्राधान्याभ्युपगमात् । तथा ज्ञानमात्रप्राधान्याभ्युपगमपरा ज्ञाननयाः । क्रियामात्रप्राधान्याभ्युपगमपराश्च क्रियानयाः । तत्र ज्ञुसूत्राद्यश्चत्वारो नयाश्चारित्रलक्षणायाः क्रियाया एव प्राधान्यमभ्युपगच्छन्ति, तस्या एव मोक्षं प्रत्यव्यवहितकारणत्वात् । नैगमसंग्रहव्यवहारास्तु यद्यपि चारित्रश्रुतसम्यक्त्वानां त्रयाणामपि मोक्षकारणत्वमिच्छन्ति, तथापि व्यस्तानामेव, न तु समस्तानाम्, एतन्मते ज्ञानादित्रयादेव मोक्ष इत्यनियमात्, अन्यथा नयत्वहानिप्रसंगात्, समुदयवादस्य स्थितपक्षत्वादिति द्रष्टव्यम् ।

कः पुनरत्र बहुविषयो नयः को वाऽल्पविषयः ?, इति चेदुच्यते--सन्मात्रमोक्षरात्संग्रहात्तावन्नेगमो बहुविषयो भावाभावभूमिकत्वात् । सद्विशेषप्रकाशकाद्वच्यवहारतः संग्रहः समस्तसत्समूहोपदर्शकत्वाद्वहुविषयः । वर्तमानविषयात्वलस्थित्वं ऋजुसूत्रास्कालत्रितयवर्त्यर्थजातावलम्बो ध्यवहारो बहुविषयः । कालादिभेदेन भिन्नार्थोपदेशकाच्छब्दात्तद्विपरीतवेदक ऋजुसूत्रो बहुविषयः । न केवलं कालादिभेदेनैवर्जुसूत्रादल्पा-

अथवा एक नयके अभिमत अर्थको ग्रहण करनेवाला व्यवहार नय और सर्व नयोंके अभिमत अर्थवां स्वीकार करनेवाला निश्चयनय कहलाता है । ऐसा स्वीकार करने पर भी निश्चयनयको प्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह अपने विषयको-सर्वनयोंके मतको प्रधान रूपमें स्वीकार करता है ।

तथा ज्ञानकी ही प्रधानता स्वीकार करनेवाला ज्ञाननय कहलाता है । ऋजुसूत्र आदि चार नय चारित्र रूप क्रियाको ही प्रधान मानते हैं, क्योंकि चारित्रक्रियाही मोक्षका ध्यवहित कारण है । नैगम, संग्रह और व्यवहारनय यद्यपि चारित्र, श्रुतज्ञान और सम्यक्त्व तीनोंको मोक्षका कारण मानते हैं, किन्तु पृथक्-पृथक् को ही कारण मानते हैं, समुदित तीनोंको नहीं । इन नयोंके अनुसार ऐसा कोई नियम नहीं कि सम्यज्ञान आदि तीनोंसे ही मोक्ष हो । अगर ये नय तीनोंके समुदायसे मोक्ष स्वीकार करलें तो नय एकाग्री हठिकोण ही न रह जाएँ । समुदायवाद अर्थात् मिले हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको मोक्षका कारण मानना सिद्धान्तपक्ष है ।

प्रश्न—उपर्युक्त सात नयोंमें कौन बहुविषयवाला और कौन अल्पविषयवाला है ?

उत्तर—सत्ता मात्रको विषय करनेवाले संग्रहनय की अपेक्षा नैगमनय बहुविषयक है, क्योंकि वह सत्ता और असत्ता-दोनोंको विषय करता है । किसी सात विषय पदार्थको प्रकाशित करनेवाले व्यवहारनय की अपेक्षा संग्रहनय अधिक विषयवाला है, क्योंकि वह समस्त सत्पदा-योंके समूहका उपदर्शक है । वर्तमानकालीन पदार्थको विषय करनेवाले ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा व्यवहारनय अधिक विषयवाला है, क्योंकि वह त्रिकालवर्त्ती पदार्थ-समूहको ग्रहण करता है । काल आदिके भेदसे पदार्थको भिन्न माननेवाले शब्दनयकी अपेक्षा ऋजुसूत्र बहुत विषयवाला है,

र्थता शब्दस्य, किन्तु भावघटस्यापि सद्भावासद्भावादिनाऽपितस्य स्याद् घटः स्याद्घट इत्यादिभंगपरिकरितस्य तेजाभ्युपगमात् तस्यर्जुसूत्राद् विशेषिततरत्वोपदेशात् । यद्यपीहशसम्पूर्णसप्तभंगपरिकरितं वस्तु स्याद्वादिन एव संगिरन्ते, तथापि ऋजुसूत्रकृतं तदभ्युपगमापेक्षयाऽन्यतरभंगेन विशेषितप्रतिपत्तिरत्रादुष्टेत्यदोष इति वदन्ति । प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरुद्धाच्छब्दस्तद्विषया (द्विपर्यया) नयायित्वाद्वृहविषयः । प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानादेवम्भूतात्समभिरुद्धः तदन्यथार्थस्थापकस्त्राद्वृहविषयः ।

नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभंगीमनुगच्छति, विकलादेशत्वात्, परमेतद्वाक्यस्य प्रमाणवाक्याद्विषेष इति द्रष्टव्यम् ।

(नयाभासानां निरूपणम् ।)

अथ नयाभासाः । तत्र द्रव्यमात्राही पर्यायप्रतिक्षेपी द्रव्यार्थिकाभासः । पर्यायमात्राही द्रव्यप्रतिक्षेपी पर्यायार्थिकाभासः । धर्मिद्यमविनामे (मे) कान्तिकपार्थक्याक्योंकि वह कालादिके भेदसे पदार्थमें भेद नहीं मानता । और कालादिके भेदसे अर्थमें भेद माननेके कारण ही शब्दनय ऋजुसूत्रसे अलगविषयक नहीं, बल्कि शब्दनय (स्वरूपसे) सद्भाव और (पररूपसे) असद्भाव रूपमें विवक्षित क्रमावघटको कथंचित् घट और कथंचित् अघट इत्यादि भंगोंमेंसे किसी एक भंगसे युक्त माननेके कारण भी ऋजुसूत्रनय सामान्यतः घटको घट स्वीकार करता है, किन्तु शब्दनय उसी घटको स्वरूपसे अर्थात् स्वपर्यायोंसे सत्, परपर्यायोंसे असत् और स्व-परपर्यायोंसे अवक्तव्य, इत्यादि भंगोंमेंसे किसी एक भंगसे विशिष्ट मानता है । इस कारण भी शब्दनयका विषय ऋजुसूत्रनयसे संकीर्ण है । यद्यपि इस प्रकार सातों भंगोंसे युक्त वस्तुको स्याद्वादी ही स्वीकार करते हैं, किन्तु ऋजुसूत्रनयको मान्यताकी अपेक्षा शब्दनय विशेष प्रतिपत्ति करता है, इसमें कोई बाधा नहीं है । पर्यायवाक्यक शब्दोंके भेदसे अर्थमें भेद माननेवाले समभिरुद्धनय की अपेक्षा शब्दनय अधिक विषयवाला है, वयोंकि वह पर्यायभेदसे वस्तुमें भिन्नता नहीं मानता । क्रियाके भेदसे वस्तुमें स्वीकार करनेवाले एवं भूत नयसे समभिरुद्धनय बहुविषयक है वयोंकि यह ऐसा नहीं मानता । नयवाक्य भी अपने विषयमें प्रवृत्त होता हुआ विधि और निषेधके द्वारा सप्तभंगीको प्राप्त होता है । वह विकलादेश रूप होता है । प्रमाणवाक्यसे नयवाक्यकी यही विशेषता है ।

नयाभासोंका निरूपण

जब कोई नय अपने ग्राहण अंशको ग्रहण करता हुआ इतर अंशोंका निषेध करता है, उनके प्रति उपेक्षा नहीं रखता, तब वह नयाभास हो जाता है ।

द्रव्य मात्रको ग्रहण करनेवाला और पर्यायका निषेध करनेवाला द्रव्यार्थिकनयाभास है । इसी प्रकार पर्याय मात्रको ग्रहण करनेवाला किन्तु द्रव्यका निषेध करनेवाला पर्यायार्थिक

*शब्दनय ताम, स्थापना और द्रव्यनिषेषको नहीं, केवल भाव निषेषको ही स्वीकार करता है ।

भिसमिधर्नेगमाभासः, यथा नैयायिकवैशेषिकदर्शनम् । सत्ताऽद्वैतं स्वीकुर्वणः सकल-विशेषाभ्निरानन्दाणः संग्रहाभासः गणाऽप्लिलान्यद्वैतवाऽदिदर्शनानि सांख्यदर्शनं च । अपारभार्थिकद्रव्यपर्यायविभागभिप्रायो व्यवहाराभासः, यथा चार्वाकिदर्शनम्, चार्वाको हि प्रमाणप्रतिपक्षं जीवद्रव्यपर्यायादिप्रविभागं कल्पनारोपितत्वेनापहनुतेऽविचारित-रमणीयं भूतचतुष्टयप्रविभागमात्रं तु स्थूललोकव्यवहारानुयायितया समर्थयत इति । वर्तमानपर्यायाभ्युपगम्ता सर्वया द्रव्यापलापी ऋजुसूत्राभासः, यथा ताथागतं मतम् । कालादिभेदेनार्थभेदमेवाभ्युपगच्छन् शब्दाभासः, यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयः शब्दा भिन्नमेवार्थमभिदधति, भिन्नकालशब्दत्वात्ताहक्सिद्धान्यशब्दवदिति । पर्यायिध्वनीनामभिधेयनानात्यमेव कक्षीकुर्वणः समभिरुदाभासः, यथा इन्द्रः शकः पुरन्दर इत्यादयः शब्दा भिन्नाभिधेया एव, भिन्नशब्दत्वात्, करिकुरंगशब्दवदिति । क्रियानाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिप्नेवंभूताभासः, यथा विशिष्ट-

नयाभास कहलाता है । धर्मी और धर्म वर्त्ति द्रव्य और गुणमें, अनेक गुणोंमें अथवा द्रव्योंमें एकान्त भेद स्वीकार करनेवाला नयाभास है । जैसे नैयायिक और वैशेषिक दर्शन । एक मात्र सत्ताको अंगीकार करनेवाला और समस्त विशेषोंका निषेध करनेवाला संग्रह नयाभास है, जैसे समस्त अद्वैतवादी दर्शन और सांख्यदर्शन । द्रव्य और पर्यायिका व्याप्तविक भूद स्वीकार करनेवाला नय व्यवहाराभास कहलाता है, जैसे चार्वाकिदर्शन प्रमाणसे सिद्ध जीवद्रव्य और पर्याय आदिके भेदको कालपनिक कहकर अस्वीकार करता है और स्थूल लोकव्यवहारका अनुयायी होनेसे भूतचतुष्टयका विभाग मात्र स्वीकार करता है ।

केवल वर्तमान पर्यायिको स्वीकार करनेवाला और त्रिकालवर्ती द्रव्यका सर्वथा निषेध करनेवाला ऋजुसूत्रनयाभास है, जैसे बीढ़ मत । कालादिके भेदसे अर्थभेदको ही स्वीकार करनेवाला और अभेदका निषेध करनेवाला शब्दनयाभास है, जैसे सुमेरु था, है और होगा; इत्यादि शब्द भिन्न अर्थके ही प्रतिपादक हैं, क्योंकि वे भिन्न कालवाची शब्द हैं, जो भिन्न कालवाची शब्द होते हैं, वे भिन्नार्थक ही होते हैं; जैसे अगच्छत्, पठति, भविष्यति (गया, पढ़ता है, होगा) आदि शब्द ।

पर्याय वाचक शब्दोंके अर्थमें भिन्नता ही माननेवाला और अभिन्नताका निषेध करनेवाला समभिरुद नयाभास कहलाता है । यथा—इन्द्र, शक और पुरन्दर आदि शब्दोंका अर्थ भिन्न-भिन्न है क्योंकि वे शब्द भिन्न-भिन्न हैं; जैसे करी, कुरंग आदि शब्द ।

जिस शब्दसे जिस क्रियाका बोध होता है, वह क्रिया जब किसी वस्तुमें न पाई जाय, तब उस वस्तुके लिए उस शब्दका प्रयोग नहीं हो करता जाहिए, इस प्रकार मालनेवाला और अन्य नयोंका निषेध करनेवाला अभिन्नाय एवंभूत नयाभास है । जैसे—विशिष्ट चेष्टाये शून्य

चेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यं, घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतकियाशून्यत्वात्, पटवदिति । अर्थाभिधायी शब्दप्रतिक्षेपो अर्थनयाभासः । शब्दाभिधायर्थप्रतिक्षेपो शब्दनयाभासः । अपितमभिदधानोऽनपितं प्रतिक्षिप्तपत्तिनयाभासः । अनपितमभिदधदपितं प्रतिक्षिप्तपत्तिनपिताभासः । लोकव्यवहारमभ्युपगम्य तत्त्वप्रतिक्षेपो व्यवहारभासः । तत्त्वमभ्युपगम्य व्यवहारप्रतिक्षेपो निश्चयाभासः । ज्ञानमभ्युपगम्य क्रियाप्रतिक्षेपो ज्ञाननयाभासः । क्रियामभ्युपगम्य ज्ञानप्रतिक्षेपो क्रियानयाभास इति ।

इति महामहोपाध्यायशीकल्याणविजयगणिशिष्यमुख्यपण्डितश्रीलाभविजयगणिशिष्यावतं स-
पण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थपण्डितश्रीनयविजयगणिशिष्येण
पण्डितश्रीपदविजयगणिसहोदरेण पण्डितयोविजयगणिना
विरचितायां जैनतकंभाषायां नयपरिच्छेदः सम्पूर्णः ।

‘घट वस्तु’ ‘घट’ शब्दका कार्य नहीं है, क्योंकि उसमें घट शब्दकी प्रवृत्तिनिमित्त क्रिया नहीं है, जैसे ‘पट’ शब्दमें ।

अर्थका अभिधान करनेवाला और शब्दका निषेध करनेवाला हण्ठिकोण अर्थनयाभास है । शब्दका अभिधान करनेवाला और अर्थका निषेध करनेवाला शब्दनयाभास है । अपित (विशेष) को स्वीकार करनेवाला और अनपित (सामान्य) का निषेध करनेवाला अपितनयाभास है । इसी प्रकार अनपितका विधान करनेवाला और अपितका निषेध करनेवाला अनपितनयाभास है । लोकव्यवहारको अंगीकार करनेवाला और तत्त्वका निषेध करनेवाला व्यवहारनयाभास है । तत्त्वको अंगीकार करके लोकव्यवहारका निषेध करनेवाला निश्चयाभास है । ज्ञानको स्वीकार कर क्रियाका निषेध करनेवाला ज्ञाननयाभास और क्रियाको स्वीकार करके ज्ञानका निषेध करनेवाला क्रियानयाभास है ।

नय-परिच्छेद सम्पूर्ण ।



३. निक्षेपपरिच्छेदः ।

(नामादिनिक्षेपनिरूपणम् ।)

नया निरूपिताः । अथ निक्षेपा निरूप्यन्ते । प्रकरणादिवशोनाप्रतिपत्या—
(तथा) दिव्यवच्छेदक्यथास्थानविनियोगाय शब्दार्थरचनाविशेषा निक्षेपाः । मंगलादि-
पदार्थनिक्षेपाश्चाममंगलादिविनियोगोपपत्तेश्च निक्षेपाणां फलवत्वम्, तदुक्तम्—
‘अप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवान्’ (लघी० स्ववि० ७. २)
इति । से च सामान्यतश्चतुर्धा—नामस्थापनाद्वयभावभेदात् ।

तत्र प्रकृतार्थनिरपेक्षा नामार्थन्यतरपरिणतिनिक्षेपः । यथा सञ्चेतितमा-
त्रेणाभ्यार्थस्थितेनेत्रादिशब्देन अध्यस्थ गोपालद्वारकस्य शक्तादिपर्यायशब्दानभिधेया
परिणतिरियमेव वा यथान्यत्रावर्तमानेन यहुच्छाप्रवृत्तेन डित्थडिवित्थादिशब्देन वाच्या ।

(निक्षेपप्रकरण)

नयोंका निरूपण किया जा चुका है, अब निक्षेपोंका निरूपण किया जाता है ।

शब्द और अर्थकी ऐसी विशेष रचना निक्षेप कहलाती है जिससे प्रकरण आदिके अनु-
सार अप्रतिपत्ति आदिका निवारण होकर यथास्थान विनियोग होता है । उदाहरणार्थ मंगल
आदि पदार्थोंका निक्षेप करनेसे नाम मंगल आदिका यथावत् विनियोग हो जाता है । यही
निक्षेपोंकी सार्थकता है । लघीयस्थिर्यमें कहा है निक्षेपकी सार्थकता यही है कि उससे अप्रस्तुत
अर्थका निषेध और प्रस्तुत अर्थका निरूपण हो जाता है । सधारणतया निक्षेप चार हैं—(१)
नाम (२) स्थापना (३) द्वय और (४) भाव ।

प्रकृत अर्थकी अपेक्षा न रखनेवाली नाम या नामबाले पदार्थकी परिणति नाम निक्षेप
है । जैसे—संकेत किये हुए, अन्य अर्थ (देवाधिपति) में स्थित इन्द्र आदि शब्दके बाच्य
गोपाल पुत्र की शक्त आदि पर्यायवाचक शब्दों द्वारा अनभिधेय परिणति । जो शब्द अन्य अर्थ
में स्थित नहीं हैं ऐसे डित्थ डिवित्थ आदि यहुच्छा शब्द संकेतित कर लिये जाते हैं, वे भी
नाम कहलाते हैं ।

तात्पर्य यह है कि—किसी ने अपने पुत्र का नाम ‘इन्द्र’ रखा, यद्यपि इन्द्र शब्द शक्त
का वाचक है भगव पुत्र का नाम इन्द्र रखते समय उसके इस वास्तविक अर्थ पर हृष्टि नहीं
रखती जाती । जिसका नाम ‘इन्द्र’ रखा गया है वह इन्द्र के पर्याय—वाचक शक्त पुरन्दर
आदि शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता । इसके अतिरिक्त जो शब्द अन्य अर्थ में नियत नहीं
हैं, वे भी जब किसी का अभिधान बन जाते हैं तो नाम कहलाते हैं । नाम और नामबाल
पदार्थ में उपचार से अभेद होता है । अतः इन्द्र यह ‘नाम’ नाम कहलाता है, साथ ही ‘इन्द्र’
नाम वाला व्यक्ति भी इन्द्र कहलाता है ।

तस्त्वतोऽर्थनिष्ठा उपकारतः शब्दनिष्ठा च । मेर्वादिनामापेक्षया यावद्द्रव्यभाविनी, देवदत्तादिनामापेक्षया चायावद्द्रव्यभाविनी, यथा वा पुस्तकपत्रचित्राविलिखिता वस्त्वभिधानभूतेन्द्रादिवर्णविली ।

यत्तु वस्तु तदर्थेभियुक्तं तदभिप्रायेण स्थाप्यते चित्रादौ तादृशाकारम्, अक्षादौ च निराकारम्, चित्राद्यपेक्षयेत्वरं नन्दीश्वरचेत्यप्रतिमाद्यपेक्षया च यावत्कथिकं स स्थापनानिःक्षेपः, यथा जिनप्रतिमा स्थापनाजिनः, यथा चेन्द्रप्रतिमा इथापनेन्द्रः ।

भूतस्य भाविनो वा भावस्य कारणं यज्ञिक्षिप्यते स द्रव्यनिःक्षेपः, यथाऽनुभूते-न्द्रपर्यायोऽनुभविष्यमाणेन्द्रपर्यायो वा इन्द्रः, अनुभूतघृताधारत्वपर्यायेऽनुभविष्यमाण-घृताधारत्वपर्याये च घृतघटन्यपदेशवत्तत्रेन्द्रशब्दव्यपदेशोपपत्तेः । ववच्चिदप्राधार्थेऽपि द्रव्यनिःक्षेपः प्रवर्तते, यथाऽङ्गारमर्दको द्रव्याचार्यः, आचार्यगुणरहितत्वात् अप्रधानाचार्य इत्यर्थः । ववच्चिदनुपयोगेऽपि, यथाऽनाभोगेनेहपरलोकाद्याद्यासालक्षणेताविधिना च भवत्यपि क्रियमाणा जिनपूजादिक्रिया द्रव्यक्रियेष्य, अनुपयुक्तक्रियायाः साक्षात्मो-

नाम और नामवान् अर्थ की यह परिणति वस्तुतः अर्थनिष्ठ है और उपकारसे शब्दनिष्ठ है । मेह आदि नामोंकी अपेक्षा यह परिणति यावद्-द्रव्य-भाविनी है अर्थात् जब तक वे द्रव्य हैं तब तक उनका यह नाम भी बना रहता है । मगर देव-दस्त आदि नामोंकी अपेक्षा यह अयावद्द्रव्यभाविनी है (क्योंकि वे नाम द्रव्यके विद्यमान रहने पर भी बदल सकते हैं ।) पुस्तक पत्र और चित्र आदि में लिखित वस्तुकी अभिधान रूप इन्द्र ऐसी वर्णविली भी नाम कहलाती है ।

जो वस्तु उस मूलभूत अर्थसे रहित हो किन्तु उसीके अभिप्रायमें स्थापित (आरोपित) की जाय वह स्थापनानिःक्षेप है । वह चित्र आदिमें तादृशाकार होती है और अज आदिमें निराकार होती है । वह चित्र आदिकी अपेक्षा अल्पकालिक होती है और नन्दीश्वर द्वीपके चेत्योंकी (आश्वत) प्रतिमाकी अपेक्षा यावत्कथिक (जब तक वह वस्तु है तबतकके लिए) होती है । जैसे जिनप्रतिमा 'स्थापनाजिन' और इन्द्रकी प्रतिमा 'स्थापनेन्द्र' है ।

भूतभाव (पर्याय) अथवा भावी-भावका जो कारण निखिल किया जाता है, वह द्रव्य-विक्षेप कहलाता है । जिस घटमें, भूतकालमें घृत रखा गया था अथवा भविष्यमें रखा जायगा वह वर्तमानमें भी 'घृत-घट' कहलाता है; इसी प्रकार जो भूतकाल में इन्द्र-पर्यायका अनुभव कर चुका है अथवा जो भविष्यमें करेगा, वह वर्तमानमें भी इन्द्र कहलाता है । यह द्रव्यनिःक्षेप है ।

कहीं-कहीं अप्रधानतामें भी द्रव्यनिःक्षेप प्रवृत्त होता है, जैसे अंगारों (कोयलों) को भर्दन करने वाला आचार्य 'द्रव्याचार्य' कहलाता है । यहाँ द्रव्याचार्यका अभिप्राय है—आचार्यके गुणोंसे रहित होनेके कारण अप्रधान आचार्य । कहीं-कहीं उपयोग शून्यताको भी 'द्रव्य' कहा है । जैसे—उपयोग—रहित होकर अथवा ऐहिक या पारलौकिक आकांक्षारूप अविधिसे, भवित-पूर्वक भी की जानेवाली जिनपूजा आदि क्रिया, द्रव्यक्रिया ही कहलाती है । क्योंकि उपयोग—

आंगस्वाभावात् । भवत्याऽविधिनरपि क्रियमाणा सा पारम्पर्येण भोक्तांगत्वापेक्षया द्रव्यतामश्नुते, भवितगृणेनाविधिदोषस्य निरनुबन्धीकृतत्वादित्याचार्यः ।

विवक्षितक्रियानुभूतिविशिष्टं स्वतत्त्वं यन्निक्षिप्यते स भावनिक्षेपः, यथा इन्द्रनक्रियापरिणामो भावेन्द्र इति ।

ननु भाववर्जितानां नामादीनां कः प्रतिविशेषस्त्रिव्यपि बृह्यविशेषात् ?, तथाहि— नाम तावस्मामवति पदार्थं स्थापनायां द्रव्ये चाविशेषेण वर्तते । भावार्थशून्यत्वं स्थापनारूपमपि त्रिव्यपि समानम् त्रिव्यपि भावस्प्रभावात् । द्रव्यमपि नामस्थापनाद्रव्येषु वर्तत एव, द्रव्यस्येव नामस्थापनाकरणात्, द्रव्यरथ द्रव्ये सुतरां दृत्सेइचेति विहद्वधर्माध्यासाभावान्नेषां भेदो युक्त इति चेत्; न; अनेन रूपेण विहद्वधर्माध्यासाभावेऽपि रूपान्तरेण विहद्वधर्माध्यासात्तद्भेदोपपत्तेः । तथाहि—नामद्रव्याभ्यां स्थापना तावदाकारानिप्राप्यबुद्धिक्रियाफलदर्शनाद् भिन्नते, यथा हि स्थापनेन्द्रे लोचनसहस्राद्याकारः, स्थापनाकर्तुश्च सद्भूतेन्द्राभिप्राप्यो, दण्डुश्च तदाकारदर्शनादिन्द्र—

शून्यकी क्रिया साक्षात् मोक्षका कारण नहीं होती । भवितके साथ अविधिसे की जानकाली वह क्रिया परम्परासे मोक्षका कारण होनेसे द्रव्यक्रिया कहलाती है । आवायोक्ता कथन है कि भवितगृण अविधि के दोष को अनुबन्धहीन बना देता है ।

विवक्षित क्रिया की अनुभूतिसे युक्त जो स्वतत्त्व निर्धिष्ट क्रिया जाता है वह भावनिक्षेप है, जैसे वर्तमानमें इन्द्रनक्रिया करतेवाला भावेन्द्र है ।

अंका—भावको छोड़कर नाम स्थापना और द्रव्यमें वश अन्तर है ? इन तीनोंमें से प्रत्येक में तीनोंको सत्ता पाई जाती है । जैसे—नाम, नामवान् पदार्थमें, स्थापनामें और द्रव्यमें समान रूपसे रहता है । भाव शब्द अर्थमें रहित होना स्थापनाका लक्षण है और वह भी नाम, स्थापना तथा द्रव्यमें है, क्योंकि ये तीनों ही भावसे रहित हैं । और द्रव्य भी नाम, व्यक्ति तथा तथा द्रव्यमें विवर्मान है, क्योंकि द्रव्यका ही नाम होता है, द्रव्यकी या द्रव्यमें ही स्थापना की जाती है और द्रव्यमें द्रव्य तो स्वभावतः रहता ही है । इस प्रकार नाम, स्थापना और द्रव्यमें विरोधी धर्म नहीं पाये जाते, अतएव इनमें भेद मानना उचित नहीं है ।

समाधान— ऐसा मत कहो । जिस रूपमें ऊपर तीनोंमें अभिन्नता प्रदर्शित की गई है, उस रूपसे भेद न होने पर भी अन्य प्रकारसे उनमें परस्पर विरोधी धर्म पाये जाते हैं और इस कारण उनमें भिन्नता है । वह भिन्नता इस प्रकार है—

आकार, अभिप्राय, बुद्धि, क्रिया और फलदर्शनमें स्थापनाका नाम और द्रव्यसे भेद है । जैसे—व्याप्ति—इन्द्रमें हजार लोचन आदि इन्द्रका आकार होता है । स्थापना करने वालेका वास्तविक इन्द्रका ही अभिप्राय होता है अर्थात् वह अपाली इन्द्रके विवारणे ही स्थापना करता है । दण्डको वह आकार देखकर इन्द्रकी बुद्धि उत्पन्न होतो है—दण्ड के उसे इन्द्र ही समझता है ।

बुद्धिः, भवितपरिणतबुद्धीनां नमस्करणादिक्रिया, तत्कलं च पुश्टोत्पत्त्यादिकं संबी-
क्षयते, न तथा नामेन्द्रे द्रव्येन्द्रे चेति तात्पर्यां तस्य भेदः । द्रव्यमपि भावपरिणामिका-
रणत्वान्नामस्थापनात्परां भिद्यते, यथा ह्यनुपर्युक्तो ववता द्रव्यम्, उपयुक्तत्वकाले
उपयोगलक्षणस्य भावस्य कारणं भवति, यथा चा साधुजीवो द्रव्येन्द्रः सद्भावेन्द्ररू-
पायाः परिणतेः, न तथा नामस्थापनेन्द्राविति । नामापि स्थापनाद्रव्यात्परामुक्तवैध-
म्यादेव भिद्यते इति । द्रव्यतत्त्वादीनां श्वेतत्वादिनाऽभेदेऽपि माधुर्यादिना भेदवशापा-
दीनां केनचिद्ब्रूपेणाभेदेऽपि रूपान्तरेण भेद इति स्थितम् ।

ननु भाव एव वस्तु कि तदर्थशून्यनामादिभिरिति चेत्; न; नामादीना-
मपि वस्तुपर्याप्तवेत् नामात्परतो भावत्वान्तिकमात्, अविशिष्टे इन्द्रवस्तुत्युक्तवैरिते
नामादिभेदवृष्ट्यपरामर्शनात् प्रकरणादिनें विशेषपर्यवसानात् । भावांगत्वेनेव चा
नामादीनामुपयोग,, जिननामजिनस्थापनापरित्विवृत्तमुनिदेहवृश्नादभावोल्लासानु-
भवात् । केवलं नामादित्रयं भावोल्लासेऽनैकान्तिकमनात्यन्तिकं च कारणमिति एका-
भक्त जन नमस्कार आदि किया करते हैं और उस क्रियाका फल पुत्रलाभ आदि भी देखा
जाता है । यह सब वामें सु नाम-इन्द्रमें होती है और न द्रव्य-इन्द्रमें । इन विशेषताओंके
कारण नाम और द्रव्यसे स्थापना निष्ठेप भिन्न है ।

अब द्रव्यनिषेपको लीजिए । वह भावका परिणामी कारण होनेसे नाम एवं स्थापनासे
भिन्न है । जैसे—उपयोगशून्य वक्ता द्रव्य कहलाता है मगर जब वही उपर्युक्त होता है तो
उपयोग रूप भावका कारण बन जाता है । अथवा जैसे साधुका जीव द्रव्येन्द्र है और वह
भाव-इन्द्ररूप पर्यायका कारण होता है अर्थात् द्रव्ये-द्रव्ये साधुजीव ही आगे जाकर भावेन्द्र-
रूप पर्यायमें परिणत हो जाता है । मगर नामेन्द्र या स्थापनेन्द्रमें यह बात नहीं होती ।
स्थापना और द्रव्यकी जो विशेषताएँ बतलाई गई हैं, उनके कारण नाम भी इन दोनोंसे
भिन्न है । अतएव यह मिछ हुआ कि जैसे दूध और तकमें श्वेतता समान होनेपर भी माधुर्यं
आदि गुणोंमें भेद है, उसी प्रकार किन्हीं वातोंसे अभेद होनेपर भी नाम, स्थापना और द्रव्यमें
दूसरे रूपसे भेद है ।

जोका—एक मात्र भाव ही वस्तु है, भावरूप अर्थमें शून्य नाम आदि तीनोंको स्वीकार
करनसे क्या लाभ?

समाधान—नाम आदि भी वस्तुके ही पर्याय हैं, अतएव माधारणतया उनमें भी भाव-
पत है । जब कोई ‘इन्द्र’ ऐसा सामान्यपद उच्चारण करता है तब ऐसे हले तो नामादि चारोंका
ही लक्षण आता है । वादमें प्रकरण आदिसे विशेषका ज्ञान होता है । अथवा यही कहना
चाहिए कि भावके कारणके रूपमें ही नामादि तीनोंका उपयोग होता है, वयोंकि ‘जिन’ के नाम,
‘जिन’ की स्थापना और मृत मृतिके देह (द्रव्य) के दर्शनसे भावमें उल्लासका अनुभव होता है ।
हाँ, नामादि तीनों भावके उल्लासमें एकान्तिक और जात्यन्तिक कारण नहीं हैं । इसी कारण

निकात्यन्तिकस्य भावस्याभ्यहितत्वमनुभव्यन्ते प्रवचनवृद्धाः । एतच्च भिन्नवस्तुगत-
नामाधिपेक्षयोऽवत्म् । अभिन्नवस्तुगतानां तु नामादीनां भावाविनाभूतत्वादेव वस्तुत्वम्,
सर्वस्य वस्तुनः स्वाभिधानस्य नामरूपत्वात्, स्वाकारस्य स्थापनारूपत्वात्, कारण-
तायाश्च द्रव्यरूपत्वात्, कार्यापल्लस्य च स्वस्य भावरूपत्वात् । यदि च घटनाम घट-
धर्मो न भवेत्तदा ततस्तत्संप्रत्ययो न स्यात्, तस्य स्वापृथगभूतसंबन्धनिमित्तकत्वा-
दिति सर्वं नामात्मकमेष्टव्यम् । साकारं च सर्वं मति-शब्द-घटादीनामाकारवस्त्वात्,
नीलाकारसंस्थानविशेषादीनामाकाराणामुभवसिद्धत्वात् । द्रव्यात्मकं च सर्वं उत्कण-
विफणकुण्डलिताकारसमन्वितसर्पंवत् विकाररहितस्याविर्भावतिरोभावमन्त्रपरिणा-
मस्य द्रव्यस्यैव सर्वत्र सर्वदानुभवात् । भावात्मकं च सर्वं परापरकार्यक्षणसन्तानात्म-
कस्यैव तस्यानुभवादिति चतुष्टयात्मकं जगदिति नामर्दिनयसमुदयवादः ।

प्रवचन—वृद्ध आचार्य गुकान्तिक और आत्यन्तिक भावको अभ्यहित (सबसे बढ़कर) मानते हैं।

ऊपर जो समाधान किया गया है, वह विभिन्न वस्तुगत नाम आदिकी अपेक्षामें है। एक ही वस्तुमें रहे हुए नामादि तो भावके अविनाभावी होनेके कारण ही वस्तुरूप हैं। क्योंकि प्रत्येक वस्तुका अपना—अपना अभिधान नाम है, अपनी—अपना आकार—स्थापना है, (भावी पर्यायिके प्रति) अपनी—अपनी कारणता द्रव्य है और वर्तमान पर्यायरूप वह स्वयं भाव है।

घटका नाम घटका धर्म है। ऐसा न होना तो 'घट' शब्द मुननमें घटकी प्रतीति न होती। नाम अपनेसे अभिन्न नामवान् पदार्थमें संबंधका कारण है अर्थात् जब श्रोता 'घट' नामको श्रवण करता है तो उसे पट आदिसे भिन्न और अपनेसे अभिन्न 'घट' पदार्थका ही बोध होता है। अतएव सभी पदार्थोंकी नामरूप मानना चाहिए।

सभी पदार्थ साकार। (स्थापनारूप) हैं, क्योंकि मति, शब्द और घटादि सभीमें आकार होता है। नील आदि तथा संस्थानविशेष आदि आकार अनुभवसे सिद्ध हैं।

सभी पदार्थ द्रव्यात्मक हैं। उत्कण विफण और कुंडलित (गोलाकारयुक्त) आकारों-बाले सर्प के समान निविकार, केवल आविर्भाव-तिरोभाव परिणामवाले द्रव्यकी ही सर्वत्र और सर्वदा प्रतीत होती है। सर्प कभी फन फैला लेता है, कभी सिकोड़ लेता है, कभी गोलमोल ही जाता है, कभी लंबा फैल जाता है, मगर सभी अवस्थाओंमें सर्प द्रव्य तो वही का वही प्रतीत होता है। किसी पर्यायिका आविर्भाव और किसीका तिरोभाव हो जाने पर भी द्रव्यमें किसी प्रकारका विकार नहीं होता। सभी पदार्थ इसी प्रकार द्रव्यरूप हैं।

सब पदार्थ भावात्मक अर्थात् पर्यायरूप हैं। क्योंकि-एकके बाद दूसरे और दूसरेके बाद तीसरे पर्यायिकी परापरा चलती हुई प्रतीत हो रही है। इस प्रकार सब पदार्थ परापर कार्य-क्षणोंकी सन्तान रूप ही अनुभवमें आ रहे हैं। इस प्रकार जगत् अर्थात् जगत्के समस्त पदार्थ नामादि-चतुष्टयमय हैं। यह नामनय, स्थापनानय, द्रव्यनय और भावनयका समुदयवाद है।

(२. निःक्षेपाणां नयोंमें योजना ।)

अथ नामादिनिक्षेपा नयैः सह योजयन्ते । तत्र नामादित्रयं द्रव्यास्तिकनयस्येवा-भिमतम्, पर्यायास्तिकनयस्य च भाव एव । आद्यस्य भेदौ संग्रहव्यवहारी, नैगमन्ययथाक्रमं सामान्यग्राहणी विशेषधारणीहृणश्च अनयौरेवान्तर्भावात् । ऋजुसूत्रावयवश्च चत्वारो द्वितीयस्य भेदा इत्याचार्यसिद्धसेनमतानुसारेणाभिहितं जिनभद्रगणिक्षमां-अमणपूज्यपादं:-

“नामाइतियं दब्बट्टियस्य भावो अ पञ्जवण्यस्स ।

संग्रहव्यवहारा पढमगस्स सेसा उ इयरस्स ॥”

इत्यादिना विशेषावश्यके । स्वमते तु नमस्कारनिक्षेपविचारस्थले-

“भावं चिय सद्वण्या सेसा इच्छन्ति सब्बणिक्षेपे” (२८४७)

इसि बचसा त्रयोऽपि शब्दनयाः शुद्धत्वाद्ग्रावयसेवेच्छन्ति ऋजुसूत्रावयस्तु, चत्वारशब्दतुरो अपि निक्षेपानिच्छन्ति अविशुद्धत्वादित्युक्तम् । ऋजुसूत्रो नामभावनिक्षेपावेवेच्छतोत्यन्ये; तत्र (तत्र) ; ऋजुसूत्रेण द्रव्याभ्युपगमस्य सूत्राभिहितत्वात्, पृथक्त्वाभ्युपगमस्य परं निषेधात् । तथा च सूत्रम्--‘उज्जुसुअस्स एगे अणुवडत्ते आगमओ एम दब्बावस्सये, पुहत्तं नेच्छइ त्ति’ (अनुयो० सू० १४) कथं चायं पिण्डावस्थायां सुवर्णा-

(निक्षेपोंकी नयोंमें योजना)

अब नामनिक्षेप आदिकी नयोंमें योजना करते हैं । चार निक्षेपोंमें से नाम, स्थापना और द्रव्यनिक्षेपको द्रव्याधिकनय ही स्वीकार करता है । भावनिक्षेपको पर्यायाधिकनय मान्य करता है ।

द्रव्याधिकनयके दो भेद हैं । संग्रह और व्यवहार, वयोंकि सामान्यग्राही नैगमन्यका संग्रहनयमें और विशेषग्राही नैगमन्यका व्यवहारनयमें समावेश हो जाता है । ऋजुसूत्र आदि चार भेद पर्यायाधिकनयके हैं । आचार्य सिद्धसेन दिवाकरके इस मतके अनुसार जिनभद्रगणिक्षमाथमण में विशेषावश्यकमें कहा है—नामादि तीन निक्षेप द्रव्याधिकनयको और भावनिक्षेप पर्यायाधिकनयको मान्य है । संग्रह और व्यवहारनय द्रव्याधिकके भेद हैं और ऋजुसूत्र आदि शेष नय पर्यायाधिकके भेद हैं । किन्तु जिनभद्रगणिक्षमाथमण ने आपने निजके मतके अनुसार नमस्कारके निक्षेपोंका विचार करते हुए ऐसा कहा है—शब्दनय अर्थात् शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूतनय भावनिक्षेप को ही स्वीकार करते हैं और शेष नय मध्ये निक्षेपों को स्वीकार करते हैं । तीनों शुद्धनय शुद्ध होने के कारण भाव को ही मानते हैं किन्तु ऋजुसूत्र आदि चारों निक्षेपोंको स्वीकार करते हैं । किसीका कहना है कि ऋजुसूत्रनय नाम और भाव निक्षेपोंको ही अंगीकार करता है, किन्तु यह कथन ठीक नहीं है । ऋजुसूत्रनयका द्रव्यनिक्षेपको स्वीकार करना सूत्रोक्त है । यह नय केवल पृथक्त्व (अनेकता) का ही निषेध करता है । अनुयोगद्वारसूत्रमें कहा है—‘उज्जुसुअस्स’ इत्यादि, अर्थात्-ऋजुसूत्रनयके अभिप्रायसे एक अनुपयुक्त (उपयोगशून्य) पुरुष आगमसे एक द्रव्यावश्यक है; यह नय पृथक्त्व (अनेकत्व) नहीं मानता ।

दिद्रव्यमनाकारं भविष्यत्कुण्डलादि-पर्यायिलक्षणभावहेतुत्वेनाभ्युपगच्छन् विशिष्टेन्द्रा-
द्यभिलापहेतुभूतां साकारामिन्द्रादिस्थापनां नेच्छेत् ? , न हि हृष्टेऽनुपपत्तं नामेति ।
किञ्च, इन्द्रादिसञ्जामात्रं तदर्थेरहितमिन्द्रादिशब्दवाच्यं वा नामेच्छन् अयं भावकारण-
त्वाविशेषात् कुतो नामस्थापने नेच्छेत् ? प्रत्युत सुतरां तदभ्युपगमो व्याख्यः । इन्द्र-
भूतिलक्षणद्रव्य-विशिष्टतदाकाररूपस्थापनयोरिन्द्रपर्यायिरूपे भावे तादात्म्यसंबन्धेना-
वस्थितत्वात्तत्र वाच्यवाचकभावसंबन्धेन संबद्धान्नाम्नोऽपेक्षया सन्निहिततरकारण-
त्वात् । संग्रहव्यवहारौ स्थापनाबजर्स्त्रीमिक्षेपानिच्छत इति केचित् ; तत्रानवद्यं
यतः संग्रहिकोऽसंग्रहिकोऽनपितभेदः परिपूर्णो वा नैगमस्तावत् स्थापनामिच्छतीत्यव-
दयमभ्युपेयम्, संग्रहव्यवहारयोरन्यत्र द्रव्यार्थिके स्थापनाभ्युपगमावर्जनात् । तत्राद्यपक्षे
संग्रहे स्थापनाभ्युपगमप्रसंगः, संग्रहनयमतस्य संग्रहिकनैगममताविशेषात् । द्वितीये
व्यवहारे तदभ्युपगमप्रसंगः, तन्मतस्य व्यवहारमताबविशेषात् । तृतीये च निरपेक्षयोः

जब ऋजुसूत्रन्य पिङावस्थामें कुंडल आदि आकारसे रहित सुवर्णद्रव्यको, भविष्यमें
होनेवाले कुंडल आदि पर्याय रूप भावका कारण होनेसे स्वीकार करता है तो जो इन्द्र आदि-
के अभिलापका कारण है और साकार है—अथात् जिसे देखकर 'इन्द्र' ऐसा शब्द प्रयोग होता
है और जिसमें इन्द्रका आकार भी विद्यमान है, ऐसी स्थापनाको क्यों स्वीकार नहीं करेगा ?
और जब यह नय इन्द्ररूप अर्थसे रहित 'इन्द्र' इस नाम मात्रको इन्द्र पदका वाच्य मानता
है तो फिर नाम और स्थापनाको क्यों न मानेगा ? आखिर वे भी तो (द्रव्यकी भाँति)
भावके कारण ही हैं । उनको मानता तो व्यायसंगत ही है । इन्द्रभूति रूप द्रव्य और इन्द्रका
विशिष्ट आकार रूप स्थापना, यह दोनों इन्द्रपर्याय रूप भावमें तादात्म्य संबंधमें रहते हैं, जब
कि नाम सिर्फ वाच्य-वाचक संबंधसे ही रहता है । अतएव नामकी अपेक्षा द्रव्य और स्थापना
भावसे निकटतर हैं ।

कोई कहते हैं—संग्रह और व्यवहारनय स्थापनाको छेड़ कर तीन निधेयोंको स्वीकार
करते हैं, किन्तु यह कथन भी निर्दोष नहीं है । यह तो मानता ही पड़ेगा कि संग्रहिक नैगम,
असंग्रहिक नैगम या भेदनिरपेक्ष परिपूर्ण नैगमनय स्थापनाको तो स्वीकार करता ही है
क्योंकि संग्रह और व्यवहारको छोड़कर अन्यत्र द्रव्यार्थिकमें स्थापनाका स्वीकार निषिद्ध नहीं
है । अथात् सिर्फ यही कहा गया है कि संग्रह और व्यवहारनय स्थापना निधेयको स्वीकार
नहीं करते । ऐसी स्थितिमें यदि नैगम नय स्थापना निधेयको स्वीकार करता है तो पूर्वोत्त-
तीन प्रकारके नैगमोंमें कौन-सा नैगमनय स्वीकार करता है ? यदि संग्रहिक नैगम स्थाप-
नाको स्वीकार करता है यह पक्ष मानता हो तो इस प्रथम पक्षमें, संग्रहनयके मतमें स्थाप-
नाको स्वीकार करनेका प्रसंग आता है, क्योंकि संग्रहनयकी मात्यता संग्रहिकनैगमसे भिन्न
नहीं है । यदि दूसरा (असंग्रहिकनैगमनयका) पक्ष स्वीकार किया जाय तो यह मानता होगा
कि व्यवहारनय स्थापनाको स्वीकार करता है, क्योंकि असंग्रहिकनैगम भव व्यवहारनयसे

संग्रहव्यवहारयोः स्थापनानभ्युपगमोपपत्तावपि समुदितयोः संपूर्णनैगमरूपत्वात्तदभ्युपगमस्य दुनिकारत्वम्, अविभागस्थान्नेगमात्प्रत्येकं तदेकैकभागग्रहणात् । किञ्च, संग्रहव्यवहारयोनैगमान्तर्भावात्स्थापनाभ्युपगमलक्षणं तन्मतमपि तत्रान्तर्भूतमेव, उभयधर्मलक्षणस्य विषयस्य प्रत्येकमप्रवेशेऽपि स्थापनालक्षणस्यकधर्मस्य प्रवेशस्य सूपपादत्वात्, स्थापनासामान्यतद्विशेषाभ्युपगममात्रेणैव संग्रहव्यवहारयोर्भेदोपपत्तेरित्यथागमं भावनीयम् । एतैश्च नामादिनिष्केपैर्जीवादयः पदार्था निष्केप्याः ।

(जीवविषये निष्केपाः)

तत्र यद्यपि यस्य जीवस्याजीवस्य वा जीव इति नाम कियते स नामजीवः, देवतादिप्रतिमा च स्थापनाजीवः, औपशमिकादिभावशाली च भावजीव इति जीवविषयं निष्केपत्रयं सम्भवति, न तु द्रव्यनिष्केपः । अयं हि तदा सम्भवेत्, यद्यजीवः सञ्चायत्यां जीवोऽभविष्यत्, यथाऽदेवः सञ्चायत्यां देवो भविष्यत् (न) द्रव्यदेव इति । न चैतदिष्टं सिद्धान्ते, यतो जीवत्वमनादिनिधनः पारिणामिको भाव इष्यत इति ।

थिव नहीं है । यहि तीसरा पक्ष (सम्पूर्ण नैगमनय) स्वीकार किया जाय तो भी स्थापनाको स्वीकार करना अनिवार्य होगा, क्योंकि जब निरपेक्ष संग्रह और व्यवहार स्थापनाको स्वीकार नहीं करते हैं तो दोनों समुदित हो कर संपूर्ण नैगमरूप होकर उसे स्वीकार करेंगे ही । निविभाग नैगमनयके एक-एक भागको ही संग्रह और व्यवहार ग्रहण करते हैं । इसके अतिरिक्त जब संग्रह और व्यवहारनय नैगमनयके अन्तर्गत हैं तो नैगमका मत भी उनके अन्तर्गत समझना चाहिए अर्थात् जो मत नैगमका है वही संग्रह और व्यवहारका भी होना चाहिए । उभय धर्म रूप विषय (सामान्य-विशेष) किसी एक में भले ही अन्तर्गत नहीं हो सकता, फिर भी स्थापना रूप एक धर्मका प्रवेश तो हो ही सकता है । स्थापनाके दो भेद-स्थापनासामान्य और स्थापनानविशेष मान लेनेसे ही संग्रह और व्यवहारका भेद संभव हो जायगा, इत्यादि विचार आगमके अनुसार करना चाहिए । इन नामादि चार निष्केपोंसे जीव-आदिपदार्थोंका न्यास करना चाहिए ।

(जीवके विषयमें निष्केप)

किसी जीवका या अजीवका 'जीव' ऐसा नाम रख दिया जाता है, वह नामजीव कहलाता है । देवता आदिकी प्रतिमा स्थापनाजीव है । जो औपशमिक आदि भावोंसे युक्त है वह भावजीव है । इस प्रकार जीवके विषयमें तीन ही निष्केप घटित हो सकते हैं, द्रव्यनिष्केप नहीं । यदि कोई वर्तमानमें अजीव हो और भविष्यमें जीव होनेवाला हो तो उसे द्रव्यजीव कहा जा सकता था; जैसे वर्तमानमें जो देव नहीं है किन्तु भविष्यमें होनेवाला है, उसे द्रव्यदेव कहते हैं । मगर जीवके विषयमें ऐसा माना नहीं जा सकता । वर्तमानमें अजीव भविष्यमें जीव होगा, यह सिद्धान्तमें अभिमत नहीं है । जीवत्व अनादि-निधन और पारिण-

तथापि गुणपर्यायविद्युक्तत्वेन बुद्धया कल्पितोऽनादिपारिणामिकभावयुक्तो द्रव्यजीवः, शून्योऽयं भंग इति यावत् सती गुणपर्यायाणां बुद्धयापनयस्य कर्तुमशब्दयत्वात् । महासलु ज्ञानायत्तार्थपरिणतिः, किन्तु अर्थो यथा यथा विपरिणमते तथा तथा ज्ञानं प्रादुरस्तीति । न चैव नामाद्विचतुष्टयस्य व्यापिताभंगः, यतः प्रायः सर्वपदार्थेष्वन्येषु तत् सम्भवति । यद्युक्तेकस्मिन्न सम्भवति नैतावता भवत्यव्यापितेति बृद्धाः । जीव-शब्दार्थज्ञस्तत्रानुपयुक्तो द्रव्यजीव इत्यप्याहुः । अपरे तु बदन्ति—अहमेव मनुष्यजीवो (द्रव्यजीवो) अभिधातव्यः उत्तरं देवजीवमप्रादुर्भूतमाश्रित्य अहं हि तस्योत्पित्सोद्देव-जीवस्य कारणं भवामि, यतइच्चाहमेव तेन देवजीवभावेन भविष्यामि, अतोऽहमधुना द्रव्यजीव इति । एतत्कथितं तर्थवत्ति—पूर्वः पूर्वो जीवः परस्य परस्योत्पित्सोः कारणमिति । अस्मिन्न पक्षे सिद्धु एव भावजीवो भवति, नान्य इति—एतदपि नानवद्यमिति तत्त्वार्थटीकाकृतः ।

इदं पुनरिहावधेयं—इत्थं संसारिजीवे द्रव्यत्वेऽपि भावत्वाद्विरोधः, एकवस्तुगतानां नामादोनां भावाद्विनाभूतत्वप्रतिपादनात् । तदाहु भाष्यकारः—

मिक भाव है । तथापि बुद्धिसे यह कल्पना करले कि गुण और पर्यायसे रहित अनादि पारिणामिक भाव (जीवत्व) से युक्त द्रव्य जीव कहलाता है; भाव यह भग शून्य ही होगा, क्योंकि ऐसा कोई जीव हो नहीं सकता । विद्यमान गुणों और पर्यायोंको कल्पना मात्रसे हटाया तो नहीं जा सकता ! पदार्थका परिणमन ज्ञानके अधीन नहीं है; वरन् पदार्थका जैसा-जैसा परिणमन होता है वैसा ही वैसा ज्ञान उत्पन्न होता है ।

जीवमें द्रव्य निक्षेप घटित न होनेसे नामादि चारों निक्षेपोंकी व्यापकता भंग हो जाती है, ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि प्रायः अन्य सब पदार्थोंमें वे व्याप्त हैं । प्राचीन जाचार्योंका कथन है कि कहीं एकाध पदार्थमें घटित न होने मात्रसे उनकी व्यापकता नहीं मिट सकती । उनका यह भी कहना है कि जो 'जीव' शब्दके अर्थको जानता है किन्तु उसमें उपयोग नहीं लगाये हैं वह द्रव्यजीव है ।

किन्हींका कहना है—‘जो अभी ‘उत्पन्न नहीं’ हुआ ऐसे उत्तरकालीन देवजीवकी अपेक्षा में मनुष्यजीव ही द्रव्यजीव हूँ, ऐसा कहना चाहिए, क्योंकि उत्पन्न होनेवाले उस देवजीवका में कारण हूँ । इस कारण इस समय में द्रव्यजीव हूँ’ । इनके कथनका अभिप्राय यह निकला कि पहले-पहले वाला जीव अगले-अगले उत्पन्न होने वाले जीवका कारण है । इस पक्षमें केवल सिद्ध जीव ही भावजीव हो सकेंगे । उनके अतिरिक्त कोई भावजीव न रहेगा—सभी द्रव्यजीव ठहरेंगे । अतएव तत्त्वार्थके टीकाकारका कथन है कि यह भत ठीक नहीं है ।

यहीं यह बात ध्यान देने योग्य है—इस प्रकार सभी संसारी जीव द्रव्यजीव हों तो भी उनमें भाव जीवत्वका विरोध नहीं होगा, क्योंकि एक वस्तुगत नाम आदि भावके अविनाशावी होते हैं । भाष्यकार कहते हैं—

‘अहवा वत्थुभिहाणं, नामं ठबणा य जो तथागारो ।

कारणया से दब्बे, कज्जावश्चं तयं भावो ॥१॥’ (विशेषा. ६०)

इति । केवलमविशिष्टजीवापेक्षया द्रव्यजीवत्वद्वयवहार एव न स्यात्, मनुष्यादेवे-
वत्थादिविशिष्टजीवं प्रत्येव हेतुत्वादिति उच्चिरं नयरहस्यद्वयो चिह्नितात्मामिः ॥
॥ इति महामहोपाध्यायथीकल्याणविजयगणिशिष्यमुख्यपण्डतश्रीलाभविजयगणिशिष्यावतंस-
पण्डतश्रीजीतविजयगणिसतीर्थंपण्डतश्रीनयविजयगणिशिष्ये एव पण्डतश्रीपद-
विजयगणिसोदरेण पण्डतयज्ञोविजयगणिना विरचितायां जैनतर्कभाषायां
निष्क्रेपपरिच्छेदः संपूर्णः, तत्संपूर्तो च संपूर्णेण जैनतर्कभाषा ॥

—————><—————

सूरिष्ठोविजयादिदेवसुगुरोः पट्टाम्बराहर्मणौ,
सूरिश्ठोविजयादिसिंहसुगुरो शक्रसनं भेद्युषि ।
तत्सेवाऽप्रतिमप्रसादजनितश्चानशुद्धचा कृतः,
ग्रन्थोऽर्थं चितनोतु कोविदकुले मोदं विनोदं तथा ॥ १ ॥
यस्यासन् गृरवोऽन्नं जीतविजयप्राज्ञाः प्रकृष्टाशयाः,
ध्राजन्ते सनया नयादिविजयप्राज्ञाऽच विद्याप्रदाः ।
प्रेम्णां यस्य च सम्भव विजयो जातः सुधीः सोदरः,
तेन न्यायविशारदेन रचिता स्तातर्कभाषा मुदे ॥ २ ॥
तर्कभाषामिमां कृत्वा मया यत्पुण्यमजितम् ।
प्राप्नुयां तेन विपुलां परमानन्दसम्पदम् ॥ ३ ॥
पूर्वं न्यायविशारदस्वविरुदं काश्यां प्रदत्तं बुधैः,
न्यायाचार्यपदं ततः कृतशतप्रन्थस्य यस्यापितम् ।
शिष्यप्रार्थनया नयादिविजयप्राज्ञोस्मानां शिशुः
तत्वं किञ्चिद्विदं ‘यशोविजय’ इत्याख्याभृदाख्यात्वान् ॥ ४ ॥

‘अथवा वस्तु का अभिधान नाम है, उसका आकार स्थापना है, भावी प्रयोगिके प्रति
कारणता द्रव्य है और कार्यपद वह वस्तु भाव है ।

ऐसा मानने पर केवल स्फुरान्य जीवकी अपेक्षासे द्रव्यजीव का व्यवहार नहीं हो सकेगा,
बद्योंकि मनुष्य आदि देव आदि विशिष्ट जीवके प्रति ही कारण हैं । इस विषय का विशेष
विवेचन हमने नयरहस्य आदि शब्दों में किया है ।

—: निष्क्रेप परिच्छेद संपूर्णं हुवा और जैनतर्क भाषा भी संपूर्णं हुई :-

हिन्दी-अनुवाद-सहिता

जैन तक भाषा
— समाप्ति —

॥ भाषाटिप्पणी ॥

रॉ॰ इंद्रचंद्र शास्त्री, एम्. ए. पी. एच-डी

पृष्ठ १, पं. ४ प्रमाण—प्रमाण शब्द की व्याख्या को लेकर भारतीय दर्शनशास्त्रों में बहुत ऊहापोह है। इसकी व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है—१) 'प्रमीमते अनेनेति प्रमेणम्' और २) 'प्रमितः प्रमा-णम्'। प्रथम व्युत्पत्ति करण-साधन है, वहाँ ज्ञान के साधन को प्रमाण माना गया है। दूसरी व्युत्पत्ति भाव-साधन है, वहाँ ज्ञान या अनुभूति को ही प्रमाण माना गया है। न्याय तथा मीमांसा प्रथम व्युत्पत्ति को लेकर चलते हैं, और बौद्ध, जैन, वेदांत आदि द्वितीय व्युत्पत्ति को।

न्याय-दर्शन के अनुसार ज्ञान की चार अवस्थाएँ हैं। १) सत्त्विकर्म-इंद्रिय और विषय का संबंध २) निविकल्पकज्ञान—३) सविकल्पकज्ञान—४) हानोपादानबुद्धि—

उसका कथन है कि 'अर्थ घटः' आदि प्रत्येक ज्ञान विशिष्टं या सप्रकारक होता है। यहाँ 'घटः' का अर्थ है 'घटत्व-विशिष्टघट'। इसी को 'घटत्वप्रकारक-घटविशेषक-ज्ञान' कहा जाता है। यह लृतीय अवस्था है, जिसे प्रमिति या ज्ञान कहा जाता है। पूर्ववर्ती दो अवस्थाओं में सत्त्विकर्म प्रमाण है और निविकल्पक ज्ञान मध्यवर्ती व्यापार। हानोपादान बुद्धि ज्ञान का फल है। कहीं-कहीं द्वितीय अवस्था को ज्ञान और तृतीय को फल बताया गया है। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान तीन अवस्थाओं में विभक्त हो जाता है—१) प्रमाण २) प्रमिति और ३) फल।

जैन तथा बौद्धदर्शन सत्त्विकर्म को प्रमाण मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उनका कथन है कि ज्ञान और उसका फल चेतना की ही दो अवस्थाएँ हैं। प्रथम अनुभूति प्रमाण कही जाती है और द्वितीय फल।

दूसरा विवाद इस प्रश्न को लेकर है कि ज्ञान विषय को जानने के साथ अपने को भी जानता है या नहीं। न्यायदर्शन का कथन है कि ज्ञान के बल विषय को अभिव्यक्त करता है, अपने आप को नहीं। अपने आप को अभिव्यक्त करने के लिए उसे ज्ञानात्मक की आवश्यकता होती है। द्वितीयज्ञान प्रथम ज्ञान को अभिव्यक्त करता है और तृतीय ज्ञान द्वितीय को। इस प्रकार जब तक अपेक्षा बनी रहती है। उत्तरोत्तर ज्ञान होते चले जाते हैं। जैन, बौद्ध एवं वेदांत दर्शनों का कथन है कि प्रत्येक ज्ञान वस्तुप्रकाशन के साथ अपने को भी प्रकाशित करता है। उसे प्रकाशित होने के लिए ज्ञानात्मक की आवश्यकता नहीं होती। प्रदीप के समान वह वस्तु को आलोकित करता है और स्वयं भी आलोकित होता है, इस लिए जैन-आचार्य प्रमाण की परिभाषा में 'स्व' शब्द का संनिवेश करते हैं।

अद्वैत वेदांत तथा बौद्धों की योगाचार परंपराएँ बाह्य जगत् को सत्य नहीं मानतीं। उनकी हृष्टि में बाह्य वस्तुओं की प्रतीति मिथ्या है। किन्तु जैनदर्शन बाह्य जगत् को सत्य मानता है। फलस्वरूप बाह्य वस्तुओं के ज्ञान को प्रमाणकोटि में रखता है। इसी लिए 'पर' शब्द का संनिवेश किया जाता है।

बौद्धों का कथन है कि वस्तु की सर्वप्रथम प्रतीति निविकल्पक होती है। तत्पश्चात् उस पर कल्पनाओं का जाल संडा किया जाता है; मिथ्यात्व के बल कल्पनाओं में रहता है। अधेरे में एक आकार दिलाई देता है, कोई वहाँ सौप की कल्पना करता है और कोई रस्ती की। कल्पना से पहले की प्रतीति सत्य एवं वस्तु-स्पर्शी होती है। उस पर रससी आदि की कल्पनाएँ हमारी और से की जाती हैं और वे सभी मिथ्या हैं।

इसके विवरीत जैनदर्शन का कथन है कि प्रत्येक अनुभूति प्रारंभ में निविकल्पक होने पर भी प्रमाणकोटि भेद तभी आती है—जब वह निष्चयात्मक हो। इसी के लिये वहीं दर्शन से लेकर ध्वारणा तक विविध अवस्थाएँ बताई गई हैं। इसी बात को प्रकट करने के लिए प्रमाण की परिभाषा में 'व्यादसायी' शब्द रखा जाता है।

आगमिक-पुण में सम्बन्धज्ञान का विभाजन ज्ञाता को लेकर किया जाता था। यदि ज्ञाता सम्बद्धिट है तो उसका प्रत्येक ज्ञान सम्बन्धित माना जाता था और मिष्याद्विष्ट है तो मिष्या। तर्क के पुण में यह विभाजन ज्ञेय वस्तु के आधार पर होने लगा। दर्शन निराकार होने से उसे सम्बन्धित या मिष्या दोनों कोटियों से बाहर रखा गया। किन्तु निष्चयात्मक न होने के कारण उसे प्रमाण नहीं माना गया। इसी के लिए परिभाषा में 'ज्ञान'शब्द का संनिवेश किया जाता है।

भीमांसादर्शन 'गृहीत-ग्रन्थ-ज्ञान' को प्रमाण नहीं मानता। उसका कथन है कि प्रत्येक ज्ञान में नई अनुभूति होनी चाहिए। इसी आधार पर दिगंबर आचार्यों ने प्रमाण की परिभाषा में 'अपूर्वार्थी' का संनिवेश किया है किन्तु इतेतरंवर आचार्यों का कथन है कि हमारे ज्ञान में प्रस्फुरित बात नई हो अथवा ज्ञातपूर्व, इससे 'उसके प्रामाण्य में अंतर नहीं पड़ता।

पृष्ठ १, पं. ६ दर्शनेऽतिष्याप्तिवारणाय—अभगदेवसूरि ने समतितर्क (कांड, २ गाथा १) की व्याख्या करते हुए दर्शन को भी प्रमाण माना है। यशोविजय ने भी अवग्रह को सामान्यप्राही बताकर उसे दर्शन से अभिन्न माना है। अवग्रह भौतिज्ञान का भेद होने के कारण प्रमाण के अंतर्गत है। इस प्रकार दर्शन भी प्रमाण के अंतर्गत हो जाता है, किन्तु माणिक्यवन्दि, वादिदेवसूरि आदि उत्तरवर्ती आचार्यों ने दर्शन को प्रमाण नहीं माना। यशोविजय ने भी उनका अनुसरण करते हुए उसे प्रमाण कोटि में नहीं रखा। इसी लिए कहा है—'दर्शनेऽति व्याप्तिवारणाय'। वास्तव में देखा जाय तो दर्शन शब्द की व्याख्या को लेकर आचार्यों में पर्याप्त भत्तेद है। कुछ का कथन है कि वस्तु को ज्ञानने के लिए आत्मा की जो प्रवृत्ति परिणति होती है, उसे दर्शन कहा जाता है। उस समय, उस आमास में विषय का प्रवेश नहीं होता। दर्शन की यह व्याख्या अधिक उपयुक्त जग्त पड़ती है, क्योंकि अनुभूति में अर्थ का प्रवेश होते ही अवग्रह प्रारंभ हो जाता है। किन्तु स्थूल हृष्टि को लेकर कुछ आचार्यों ने अवग्रह को भी दर्शन कोटि में रखा है। कुछ ने अवग्रह और इंहा दोनों को।

पृ. १, पं. ७ परोक्षवृत्तिवादी—कुमारिलभद्रका कथन है कि ज्ञान अपने आपको नहीं जानता। जब विषय प्रकट हो जाता है, तो उसके द्वारा अनुमान किया जाता है कि हमें ज्ञान हुआ है। इस प्रकार अनुमान के द्वारा ज्ञान का प्रकाश मानने वाले परोक्षवृत्तिवादी कहे जाते हैं।

पृष्ठ २, पं. १ न्यायदर्शन—प्रमा अवार्द्ध ज्ञान के कारण संनिकर्ष को प्रमाण मानता है और प्रमा को फल। जैनदर्शन प्रमा या ज्ञान को ही प्रमाण कहता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न होता है कि प्रमाण का फल किसे कहा जाएगा। उत्तर में जैन दर्शन का कथन है कि स्वार्थसंविति ही फल है। उसका कथन है कि करण और फल में आपेक्षिक भेद है, आल्यांतिक नहीं। एक ही तथ्य को अर्थप्रकाशन की हृष्टि से प्रमाण कहा जाता है और अनुभूति की हृष्टि से फल।

पृष्ठ २ पं. ४ उत्त्ववसायित्वात्—जैन तार्किकों ने प्रमाण का फल स्व और पर दोनों का ज्ञान माना है।⁶ किन्तु यशोविजय ने केवल स्व का उल्लेख किया है। उनका यह अभिप्राय ज्ञान पड़ता है कि ज्ञान का अर्थ के प्रतिभास को लेकर प्रकाशित होना ही फल है। इस में अर्थ और ज्ञान के प्रतिभास अन्तर्भूत नहीं रहते। ज्ञान ही साकार ब्राह्मण प्रतिभासित होता है। उदाहरण के रूप में हम दर्शण में अपने प्रतिविवेद को देखते हैं। दर्शण में प्रतिविवेद का पठना कारण है और प्रतिविवेदयुक्त दर्शण का प्रतिभास फल। इस प्रतिभास में प्रतिविवेद की स्वतन्त्रता नहीं रहती।

पृष्ठ. २, पं. ६ उपयोगेभित्र—न्यायदर्शन में बुद्धि अर्थात् ज्ञान को आत्मा का गुण माना गया है। किन्तु वह स्थायी नहीं है। मन का संयोग होने पर उत्पन्न होता है और एक क्षण रहकर अपने आप नष्ट हो जाता है। मुक्त अवस्था में आत्मा के साथ मन का संबंध सदा के लिए दूट जाता है। उस समय ज्ञान नहीं होता। साल्य और वेदांत आत्मा को चित्तस्वरूप मानते हैं। वही भी वह बाह्य वस्तुओं के ज्ञान के लिए प्रकृति या अविद्या पर निर्भर है। इसके विपरीत जैनदर्शन निराकार एवं साकार, बाह्य एवं आभ्यंतर प्रत्येक ज्ञान को आत्मा का गुण मानता है। चेतना उसका स्वरूप है। वही जब निराकार होती है, तो उसे दर्शन कहा जाता है और जब साकार तो ज्ञान। दैनिक अनुभूति की व्यत्यन्या के लिए आत्मा के इस गुण को दो अवस्थाओं में विभक्त किया जाता है। प्रथम अवस्था को लब्धि कहा जाता है और द्वितीय को उपयोग। लब्धि का अर्थ है—शक्ति जो समय-समय पर उपयोग अर्थात् ज्ञान के रूप में प्रकट होती है। यशोविजय के मतानुसार उपयोग ही प्रमाण है। तर्कयुग के प्रमाणशब्द की यह आगमिक व्याख्या यशोविजय की मौलिक देन है।

पृष्ठ ४, पं. १ सांख्यवाहारिक—और पारमाधिक प्रत्यक्ष ज्ञान के विभाजन की दृष्टि से जैनपरंपरा तीन युगों में विभक्त है जो क्रमशः बाह्य प्रभाव को प्रकट करते हैं। प्राचीन आगमों में यह विभाजन पाँच ज्ञानों के रूप में मिलता है। उनमें से प्रथम दो अर्थात् मति और भूत, इंद्रिय अथवा मन के रूप में बाह्य कारणों की अपेक्षा रखते हैं। दोष तीन अर्थात् अवधि, मनःपर्यय और केवल बाह्य कारणों की अपेक्षा नहीं रखते। प्रथम युग में प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में विभाजन नहीं मिलता। द्वितीय युग में प्रथम दो ज्ञानों को बाह्य सापेक्ष होने के कारण परोक्ष मान लिया गया और दोष तीन को प्रत्यक्ष। किन्तु वैदिक दर्शन इंद्रियजन्य ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मानते थे। तृतीय युग में उनका समन्वय है और इंद्रिय ज्ञान को सांख्यवाहारिक प्रत्यक्ष के रूप में स्वीकार कर लिया गया। उसकी तुलना में आत्ममात्र की अपेक्षा रखते वाले अंतीम तीन ज्ञानों को पारमाधिक प्रत्यक्ष कहा गया। नंदीमूर्ति में तीनों प्रकार का विभाजन मिलता है। प्रथम दो ज्ञानों में भूत-ज्ञान परोक्ष के अंतर्गत है, दसे अन्य दर्शनों ने इन्हें अयदा आगम प्रसाद के रूप में स्वीकार किया है। प्रथम मतिज्ञान के दो भेद हो गये। इंद्रियजन्य साकार अनुभूति को प्रत्यक्ष मान लिया गया और अन्य अनुभूतियों को परोक्ष। तर्कयुग में पाँच ज्ञानों के रूप में विभाजन की परंपरा समाप्त हो गई और उसका स्थान प्रत्यक्ष और परोक्ष ने ले लिया था। प्रत्यक्ष के दो भेद कर दिए गए—सांख्यवाहारिक और पारमाधिक। पारमाधिक के पुनः दो भेद हो गए—अवधि और मनः पर्यय को विकल तथा केवल को सकल प्रत्यक्ष कहा गया। परोक्ष के पाँच भेद किए गए—१) स्मरण २) प्रत्यक्षिज्ञान ३) तर्क ४) अनुमान और ५) आगम। इस प्रकार ज्ञानमीमांसा ने प्रमाणमीमांसा का रूप ले लिया और उसमें अन्य दर्शनों द्वारा प्रस्तुत प्रमाणव्यवस्था का समन्वय कर लिया गया।

पृष्ठ ४, पं. २ प्रत्यक्ष—प्रत्यक्षशब्द की व्युत्पत्ति करते हुए यशोविजय ने अक्ष शब्द के दो अर्थ किए हैं—इंद्रियों और जीव। और इसी आधार पर सांख्यवाहारिक और पारमाधिक दोनों प्रत्यक्षों को सम्मिलित कर लिया। किन्तु यहीं प्रश्न होता है कि व्युत्पत्ति द्वारा दो अर्थ विकलने पर भी उन्हें लक्षण में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। उसका आधार किसी एक ही वात को रखना होगा। इसी तथ्य की लक्ष्य में रखकर बादिदेवसूरि आदि आचार्यों ने प्रत्यक्ष और परोक्ष में भेद का मुख्य आधार विशदता को माना। प्रत्यक्ष से होने वाला ज्ञान परोक्ष की तुलना में अधिक विशद होता है। अनुमान से केवल अग्नि के अस्तित्व का मान होता है, किन्तु प्रत्यक्ष होने पर रूप, आकार आदि अवेक्षण सम्पन्ने आ जाते हैं। अतः यह मानना होगा कि परोक्ष की तुलना में प्रत्यक्ष अधिक स्पष्ट या विशद होता है। यशोविजय ने भी इस तथ्य का उल्लेख किया है।

पृष्ठ ४, पं. ५ यतो व्युत्पत्ति-शब्दों की व्युत्पत्ति दो प्रकार की होती है। कुछ व्युत्पत्तियाँ सार्थक हैं जैसे पाठक, अध्यापक, शासक, नेता आदि शब्दों की व्युत्पत्तियाँ। जो पढ़ाता या पाठ करता है उसे पाठक कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर हम व्यक्तिविशेष को पाठक कह सकते हैं। ऐसी व्युत्पत्तियों को 'प्रवृत्तिनिमित्त' कहा जाता है। इसके विपरीत कुछ व्युत्पत्तियाँ केवल शब्द के निमण के लिए होती हैं। उनके आधार पर प्रत्येक वस्तु को उस नाम से नहीं पुकारा जा सकता। उदाहरण के रूप में गो शब्द है। इसकी व्युत्पत्ति है—'गच्छतीति गो', किन्तु चलनेवाली प्रत्येक वस्तु को गो नहीं कहा जा सकता। ऐसे शब्दों की व्याख्या को 'व्युत्पत्तिनिमित्त' कहा जाता है। यही प्रत्यक्ष शब्द की व्याख्या 'अक्ष' शब्द को लेकर की गई है। इसका अर्थ है—इंद्रियाँ। किन्तु प्रत्यक्ष भें इंद्रियातीत ज्ञान भी सम्मिलित है, अतः अक्ष शब्द केवल व्युत्पत्ति निमित्त है। वास्तव में देखा जाय तो श्रावीन आगम-साहित्य में प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। उस समय साधारण व्यवहार में आखिं देखी वात के लिए प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग किया जाता था। दार्शनिक क्षेत्र में इसका प्रयोग सर्वप्रथम न्यायदर्शन में हुआ। वहाँ इसकी व्याख्या इंद्रियजन्य ज्ञान के रूप में की जाती है। इस व्याख्या में अक्ष शब्द से सभी इंद्रियाँ ग्रहण करली गईं। उत्तरवर्ती काल में आत्मा को भी अक्ष शब्द का अर्थ मान लिया गया और इंद्रियातीत ज्ञान को प्रत्यक्ष में सम्मिलित कर लिया गया।

पृष्ठ ४, पं. ८ सांश्यव्यवहारिक-बोडों की योगाचार परंपरा ज्ञानाद्वित को मानती है। उसने ज्ञान की दो भूमिकाएँ स्वीकार की हैं—आलय-विज्ञान और प्रवृत्ति-विज्ञान। आलयविज्ञान समूद्र के समान है और प्रवृत्तिविज्ञान उसमें उठने वाली तरंगों के समान। तरंगों का अस्तित्व समूद्र के अस्तित्व से पृष्ठ नहीं होता। दूसरे शब्दों में यों कहा जायगा कि उह समूद्र की ही क्षणिक-प्रतीति है। इसी आधार पर वहाँ सत्य के दो स्तर बताए गए हैं। संवृति सत्य और परमार्थसत्य। घट-घट आदि बाल्य वस्तुओं में प्रतीत होने वाला सत्य संवृति सत्य है। और अल्यविज्ञान परमार्थसत्य। संवृति का अर्थ है संवरण या स्वीकृति। घट-घट आदि वस्तुओं का ज्ञान वास्तव में सत्य न होने पर भी काम चलाने के लिए सत्य मान लिया जाता है। संवृति के दो भेद हैं—मिथ्या-संवृति और सत्यसंवृति। शुक्ति में रजत, रजन में सर्प आदि जो प्रतीतियाँ साधारण व्यवहार में भी मिथ्या समझी जाती हैं उन्हें मिथ्या संवृति कहा जाता है। स्वप्न भी इसी के अंतर्गत हैं। घट-घट आदि बाल्य वस्तुओं का जो ज्ञान साधारण व्यवहार में मिथ्या नहीं समझा जाती उसे सत्यसंवृति कहा गया है। योगाचार केवल 'ज्ञान' का अस्तित्व मानता है, ज्ञेय का नहीं। अतः वहाँ यह विभाजन ज्ञान या प्रतीति को लेकर किया गया। अंकराषायन ने यह विभाजन विविध सत्ता के रूप में किया है। रजन-सर्प आदि मिथ्या ज्ञानों में प्रतीत होने वाले पदार्थ प्रातिभासिक सत्य हैं। घट-घट आदि साधारण व्यवहार में प्रतीत होने वाले व्यवहारिक सत्य, और द्वारा पारमार्थिक सत्य हैं।

जीनदर्शन वाह्यजगत् को मिथ्या नहीं मानता, किंतु भी उसने इंद्रिय तथा मन के द्वारा होने वाले ज्ञान को सांश्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है और केवल आत्मा से होने वाले ज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष। यशोविज्ञय में इस वर्णकारण के कारण इस प्रकार प्रस्तुत किए हैं—सांश्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष के द्वारा पारमार्थिक न होने पर लौकिक-व्यवहार का संचालन होता है। इस इंद्रिय तथा मन के द्वारा जानकर कहीं प्रवृत्त होते हैं और कहीं निष्पृत्त। इस व्यवहार में कहीं बाधा नहीं पड़ती। इस प्रकार समीचन व्यवहार का कारण होने से इसे सांश्यव्यवहारिक कहा जाता है। अनुमान को इसीलिए परोक्ष कहा जाता है, क्योंकि वहाँ वस्तु की साक्षात् प्रतीति नहीं होती। हम धूर्ण के द्वारा अरित का अनुमान करते हैं। इसी प्रकार सांश्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष में आत्मा वस्तु को मन और इंद्रियों के द्वारा जानता है, साक्षात् नहीं। अतः वास्तव में वह परोक्ष ही है, केवल व्यवहार में प्रत्यक्ष कहा जाता है।

प्रत्यक्ष आत्मा की अनुभूति होने के कारण शब्द नहीं होता । इसके विपरीत अनुमान आदि परोक्ष ज्ञान अव्याख्या हेतु आदि के मिथ्या होने पर विद्या भी हो सकते हैं । प्रस्तुत ज्ञान भी इंद्रिय और मन का व्यवस्थानि या जाने के कारण मिथ्या हो सकता है । पीलिया रोग काले को सफेद वस्तु भी पीली दिखाई देती है । इसी ब्रह्मकार मन में राग, द्वेष आदि के कारण वास्तु वस्तुएँ विपरीत दिखाई देने लगती हैं । मिथ्यात्व की संभावना होने के कारण यह ज्ञान वास्तव में परोक्ष ही है ।

यहाँ एक बात विचारणीय है । धर्मकीति ने प्रत्यक्ष की परिभाषा में अन्नात शब्द लगाया है । उसकी अध्यता है कि प्रत्यक्ष निविकल्पक या कल्पनारहित होता है । ध्रांति की संभावना केवल कल्पना में होती है, निविकल्पक प्रतीति में नहीं होती । अतः प्रत्यक्ष सदा अन्नात होता है । गोतम ने भी अपनी प्रत्यक्ष की व्याख्या में इसी का अनुसरण किया है । उसने प्रत्यक्ष को अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक कहा है । प्रत्यक्ष में जो ज्ञान होता है उसे वब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता । साथ ही वह निर्दोष होता है । यशोविजय ने साम्यवहारिक प्रत्यक्ष में दोष की संभावना बताकर इसी तथ्य का समर्थन किया है ।

पृष्ठ ४, च. १० तदीन्द्रिया-जैन दर्शन में आत्मा वेतन और अपोद्गतिक है । इसके विपरीत मन और इंद्रियाँ जड़ तथा पीदगतिक हैं । जो ज्ञान आत्मा से होता है वह 'प्रत्यक्ष' है और जो अन्य कारणों की अपेक्षा रखता है वह परोक्ष । इसी आशार पर मति और श्रुत को 'परोक्ष' कहा गया है ।

मीमांसादर्शन में इन दोनों की व्याख्या दूसरे प्रकार से की गई है । वहीं प्रत्यक्ष का अर्थ है—वह ज्ञान जो स्वतः प्रमाण है । जिसे प्रामाण्य के लिए किसी अन्य आधार की आवश्यकता नहीं है, जैसे वेद । इसके विपरीत जिस ज्ञान का प्रामाण्य किसी अन्य आधार पर अवलंबित है, उस परोक्ष कहा जायगा, जैसे स्मृतियाँ तथा उत्तरवनी साहित्य । उनका प्रामाण्य वेद के प्रामाण्य पर निर्भर है । मीमांसादर्शन में स्मृतियों के लिए अनुमान शब्द का प्रयोग भी किया गया है । यशोविजय ने भी प्रत्यक्ष और परोक्ष की व्याख्या में उपचुकी हृष्टि को सामने रखा है । उनका कथन है कि जिस ज्ञान में संशय, विषय तथा अनश्ववसाय की संभावना है, वह स्वतः प्रमाण नहीं होता, उसे परोक्ष कहा जायगा । मति और श्रुत इसी प्रकार के ज्ञान हैं । इसके विपरीत जो ज्ञान केवल आत्मजन्य होते हैं, उनमें संशय आदि की संभावना नहीं है । वे स्वतः प्रमाण हैं । उन्हें प्रत्यक्ष कहा जायगा ।

इस प्रकार प्रत्यक्ष और परोक्ष में गरम्पर भेद का निरूपण दो आधारों पर किया गया । प्रथम आधार अस्ति अर्थात् ज्ञान की उत्पत्ति से संबंध रखता है । प्रत्यक्ष केवल आत्मा से उत्पन्न होता है और परोक्ष इंद्रिय एवं मन की सहायता से । द्वितीय आधार प्रमिति अर्थात् प्रामाण्य है । आत्मा से होने वाला ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है । उसमें अप्रामाण्य की संभावना नहीं रहती । इसके विपरीत इंद्रिय एवं मन से होने वाला ज्ञान इस संभावना से मुक्त नहीं होता । उसका प्रामाण्य अन्य तथ्यों पर निर्भर है ।

पृष्ठ ५, पं. ७ अन्वेषणवग्रह-मति और श्रुत के परस्पर भेद को लेकर 'विशेषाब्दशयक-आध्य' में विस्तृत वर्णी है । वहाँ यह मत भी आया है कि प्रत्येक ज्ञान शब्द का मंपक होने पर 'श्रुत-ज्ञान' हो जाता है । वर्त-प्रथम इंद्रियाँ वस्तु को प्रहृण करती हैं जिसे 'अवग्रह' कहा जाता है । उसके पश्चात् मून अपने प्राचीन संस्कारों के अनुसार उनका वर्णकरण करना चाहता है, जिसे 'ईहा' कहा जाता है । वर्णकरण की इच्छा होते ही ज्ञान के साथ शब्द बुड़ जाता है । उसके बिना वर्णकरण नहीं हो सकता । इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर यह शंका उठाई गई कि ईहा आदि को श्रुत कहा जाय या मति ? यशोविजय का कथन है कि उत्तर अवस्था में शब्द का निमित्त होने पर भी उस ज्ञान का प्रारंभ शब्द से नहीं होता । अतः उसे मति ही कहा जायगा । इसके विपरीत जिस ज्ञान का प्रारंभ ढी शास्त्र या दूसरे के कथन से हो उसे श्रुत कहा जायगा ।

वास्तव में देखा जाय को शुन जान का लक्ष्य भद्रापुरुषों के अनुभवों को प्रथम देना है। वैदिक परपरा में जो स्थान श्रुति का है वही वहाँ शुत का है। वहाँ श्रुति को चार देवों में विमल किया जाता है और यही शुत को अंगब्रिधि, अंगबाहु आदि के रूप में। बहुत सी परंपराएँ शुत वर्षत् आगम को प्रमाण नहीं सानतीं। उसका कथन है कि हमें अपनी ही अनुभूति पर निर्भर रहना चाहिए किन्तु वास्तव में देखा जाय तो हमारे ज्ञान का अविकाश दूसरों की अनुभूति पर निर्भर होता है। हम रेत्वे की समयसारिणी देख कर स्टेशन पर बढ़े जाते हैं और यादी पकड़ लेते हैं। बहुत-सी बातें समाचार-पत्र एवं आकाशवाणी से जानते हैं। यदि उन सब पर विश्वास लोड दिया जाय तो जीना फठिन हो जायगा। अतः आगम या शुत का जीवन में महस्वपूर्ण स्थान है, किन्तु उसके प्रामाण्य का निदेश कर लेना चाहिए। शास्त्र के प्रामाण्य की लंकर तीन मान्यताएँ हैं। प्रथम मान्यता मीरांगा-दर्शन की है। उसका कथन है कि वाणी में दोष वक्ता के कारण आता है। जिस वाणी का कोई वक्ता ही नहीं है उसमें दोष नहीं हो सकता। वेद अनादि हैं। उसका कोई वक्ता नहीं है, अतः वे निर्दोष और जनिम प्रमाण हैं। दूसरी मान्यता वेदात् एवं अन्य वैदिक-दर्शनों की है। वे वेद को ईश्वर की रक्षा मानते हैं। उसका कथन है कि वाणी में तभी दोष आता है, जब वक्ता अलज्जा या रागद्वेष से अभिभूत हो, ईश्वर सर्वज्ञ और रागद्वेष से परे है। अतः उसकी वाणी में दोष नहीं उठ सकता। तीसरी मान्यता जैनदर्शन की है। वह भी उपर्युक्त दोनों गुणों को आश्रयक मानता है, किन्तु ईश्वर के स्थान पर उन भद्रापुरुषों का रखा जा है जो साधना द्वारा ममस्त दोषों से मुक्त हो जुके हैं और सर्वज्ञत्व प्राप्त कर लुके हैं। शास्त्र उम्हीं की वाणी है। जो आगम सर्वज्ञ की वाणी नहीं है, उन्हें भी इसी आधार पर प्रमाण माना जाता है कि वे सर्वज्ञ की वाणी का अनुसरण करते हैं। साथ ही उनके रचयिता महाजानी तथा चरित्र-संपद हैं। इन्हीं दो तथ्यों के आधार पर प्रत्येक रचना में प्रामाण्य का तारतम्य आ जाता है।

पृष्ठ ६, पं. २-५ अंगोपांगादी—जब हम किसी पुस्तक को पढ़ते हैं तो दो प्रकार की अनुभूतियाँ एक साथ चलती हैं। प्रथम अनुभूति अध्यारों के प्रश्नक तथा व्याख्यान की होती है। इस में अर्थ या अनुसंधान नहीं होता। द्वितीय अनुभूति अर्थानुसंधान के पश्चात् शब्दों द्वारा प्रतिपादित विषय की होती है। प्रथम अनुभूति मतिज्ञान के अंतर्गत है और द्वितीय शुतज्ञान में। प्रथम का आधार जाक्षुष प्रत्यक्ष होता है और द्वितीय का अर्थानुसंधान या मनन।

पृष्ठ ६, पं. ११ अथ अज्ञानम्—यहीं यह प्रश्न उठाया गया है कि व्यञ्जनावग्रह को ज्ञान की कोटि में नहीं रखा जा सकता। वहाँ के कान में शब्द का प्रवेश होता है, किन्तु वह उसे नहीं पकड़ पाता। महस्वरूप इस संपर्क को ज्ञान नहीं कहा जाता। इसी प्रकार व्यञ्जनावग्रह को अर्थशून्य होने के कारण ज्ञान नहीं कहना चाहिए। उत्तर के रूप में ग्रंथकार भा कहत है कि वास्तव में वह ज्ञानस्वरूप न होने पर भी ज्ञान कारण होने से उसे ज्ञान कहा जा सकता है।

पृष्ठ ७, पं. ४ व्यञ्जनावग्रह—व्यञ्जनशब्द की व्युत्पत्ति है—‘व्यञ्जयते अनेनेति व्यञ्जनम्’ अर्थात् अभिव्यक्ति का साधन। यहीं इसके दो अर्थ किए जाते हैं। प्रथम अर्थ है—इंद्रियों, जो पदार्थ को प्रकट करती हैं। द्वितीय अर्थ है—रूप, रस आदि गुण, जिनके द्वारा वस्तु पहचानी जाती है। व्यञ्जनावग्रह की व्युत्पत्ति है—‘व्यञ्जनेन व्यञ्जनस्यावग्रह’ सर्वप्रथम इंद्रियों में रूप, रस, गंध, सर्व आदि की अनुभूति होती है। उसके पश्चात् उस अनुभूति के आधार पर अर्थ का संनिवेश किया जाता है। इसी प्रथम अनुभूति को ‘व्यञ्जनावग्रह’ कहा जाता है।

तुलनात्मक ज्ञान के लिए व्यञ्जन शब्द के अर्थ को समझाना आवश्यक है। व्याकरणशास्त्र में अध्यरों का विमाजन स्वर और व्यञ्जनों के रूप में किया जाता है। स्पर का अर्थ है केवल घनि, जो विना अध्यात के बाहर निवालती है। वही स्थानविवेश से टकराशर व्यञ्जनों का रूप ले लेती है। दूसरे भावों में यों कहा

जायगा की इच्छा व्यंजन के मध्य में आवश्यक प्रहण करती है। इसी प्रकार जब निराकार प्रतीति आकार सेने लगती है तो उसे व्यंजनावश्यक कहा जाता है।

भोजन में रोटी, चावल आदि वस्तुएँ धूशा-निष्ठिति का मूल्य तब होती हैं। ताकि, उही आदि पदार्थ उन्हें स्वादिष्ट बनाते हैं। इन्हीं को व्यंजन कहा जाता है। एक ही खाद्य वस्तु विभिन्न व्यंजनों का संपर्क प्राप्त करके अन्त-जिन्दगी स्वाद देने लगती है। इस प्रकार भोजन का सामान्य नहीं विशेष रूप के लेता है। व्यंजनावश्यक में भी सामान्य या नियमकार प्रतीति साकार बनने लगती है।

पृष्ठ ७, पं. ५ स च.....चतुर्थ—यहाँ इंद्रिय-प्राप्यकारित्व के संबंध में कुछ जान लेना आवश्यक है। वैदिक दर्शनों की मान्यता है कि प्रथेक इंद्रिय विषय के साथ संबद्ध होकर उसे प्रहण करती है। श्रोत्रेन्द्रिय में शब्द की तरणे प्रविष्ट होती है, चक्रिनिद्रिय रसिमयों के द्वारा विषय के साथ संपर्क स्थापित करती है और घ्राणेन्द्रिय में सुगम्भित प्रमाण प्रविष्ट होती है। रमना और स्पर्शनेन्द्रिय में यह संपर्क निश्चिनाद है। जैनदर्शन का कथन है कि चक्र को इस संपर्क की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार मन भी संपर्क स्थापित नहीं करता। कलास्वरूप इन दोनों में 'व्यंजनावश्यक' नहीं होता। वहाँ प्रतीति का प्रारंभ अर्थ की अनुभूति से होता है। न्यायदर्शन का कथन है कि द्रव्य का प्रवृक्ष केवल मन या चक्र के द्वारा होता है। ये इंद्रियों के बहु गुणों को प्रहण करती है, द्रव्य को नहीं। जैनदर्शन का भी विषय है कि चक्र और मन के हारा न्यौप्रथम 'अशावश्यक' होता है। उन्हें व्यंजनावश्यक ये अवश्यकता पर जाने की आवश्यकता नहीं होती। इसके विपरीत अन्य इंद्रियों गहरे व्यंजनावश्यक के रूप में गुणविद्धि को प्रहण करती हैं और उसके पश्चात् अर्थ पर पहुँचती हैं।

पृष्ठ ७, पं. ५ स च नृशन—मन और चक्र को अप्राप्यकारी भिन्न करने के लिया जैनदर्शन नोने लिखी युक्ति प्रस्तुत करता है—

अन्य इंद्रियों जब वस्तु का प्रहण करती हैं तो उन गर वस्तु के गुणों का अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अग्नि या तपी वस्तु का साथे उप्पना के गाढ़ दर्शन पर छाएं उत्तम कर देता है। इसी प्रकार जिह्वा और घ्राणेन्द्रिय में ऐसे एवं वृष्टि के अनिवित अन्य प्रभाव भी होते हैं, कठोर दाढ़ कान के पदों पर आवात करता है। चक्र तथा मन पर इस प्रकार के प्रभाव नहीं होते। आग को देखने पर भी आँखों में जलन नहीं होती। इसी प्रकार मन पर भी उसका प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। अतः वे दोनों अप्राप्यकारी हैं। न्यायदर्शन का कथन है कि मन का वस्तु के साथ संपर्क नहीं होता। वह इंद्रिय और आत्मा के बीच की कड़ी है। किन्तु चक्र-इंद्रिय अप्राप्यकारी नहीं है। आँखों की रसिमयों बाहर निकलकर वस्तु को प्रहण करती है। वेदांत रसिमयों के साथ अंतःकरण का भी बाहर निकलना स्वीकार करता है। वर्तमान विज्ञान का कथन है कि रसिमयों बाहर नहीं निकलतीं, किन्तु वस्तु का आँख की पुतली में प्रतिबिक्ष पड़ता है। हविटनाडी उस प्रतिविक्ष को भस्तिष्ठ तक ले जाती है और जान या अनुभूति का विषय बना देती है। यह मान्यता भी चक्र के अप्राप्यकारी होने का समर्थन करती है। जहाँ तक मन का प्रबन्ध है इसके द्वारा तीन प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। प्रथम प्रकार उन अनुभूतियों का है जिनका प्रारंभ इंद्रिय-ज्ञान से होता है किन्तु मन अपनी ओर से उस ज्ञान में किसी भी वृत्त का संनिवेश करता है जैसे—अनुमान। वहाँ धूम का इंद्रियप्रत्यक्ष होता है और उस आधार पर मन अग्नि की प्रतीति की जोड़ देता है। इसी प्रकार धूतप्रान में अक्षरों का प्रत्यक्ष होता है और मन वर्धों को जोड़ देता है। ऐसे स्थलों में मानसिक ज्ञान को सभी ते परोक्ष माना है। द्वितीय प्रकार उन अनुभूतियों का है जहाँ मन इंद्रिय द्वारा अनुभूति पदार्थ में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता एवं अवसाधात्मकता लाने का प्रयत्न करता है। जैनदर्शन में इसी क्रम का विज्ञान अवश्य, इहा आदि के रूप में किया गया है। न्यायदर्शन इसे निविकल्पक एवं सविकल्पक प्रत्यक्ष के लिए उपस्थित करता है। बांद्र-दर्दीन प्रथम निविक-

स्वाक अनुभूति को प्रत्यक्ष और उत्तरवर्ती शब्दिकल्पक अनुभूतियों को अनुमान मानता है। जैनदर्शन इस विषय में प्रारंभ को लेकर चलता है। जिस अनुभूति का प्रारंभ इंद्रिय ज्ञान से होता है उसे प्रत्यक्ष कहता है और जिसका प्रारंभ मन में, उसे परोक्ष। प्रस्तुत दोनों प्रकारों में मन का विषय के साथ संपर्क नहीं होता। तृतीय प्रकार सुख-दुःख आदि की अनुभूतियों का है। इनमें इंद्रियों का व्यापार नहीं होता। फिर भी उन्हें प्रत्यक्षात्मक माना जाता है। इनमें भी मन का विषय के साथ संपर्क नहीं होता। पीत-उष्ण, मधुर-कटु, सुख-दुःख आदि का ग्रहण इंद्रियों करती हैं। और मन उनका प्राचीन संस्कारों के अनुमार वर्गीकरण करता है। किसी को अनुकूल कोटि में रखता है और किसी को प्रतिकूल कोटि में। इंद्रियों द्वारा होनेवाली अनुभूति वस्तुलक्षणी होती है, किन्तु मानसिक अनुभूति आत्मलक्षणी होती है। रसनेविषद्वारा पिर्व-मसालों की अनुभूति बालक और वयस्क को एक सी होती है, किन्तु मानसिक अनुभूति में अंतर आ जाता है। वयस्क उन्हें स्वादिष्ट मानता है और बालक बेस्काइ। इससे जात होता है कि मन का वस्तु के साथ संपर्क नहीं होता। वह केवल प्राचीन संस्कारों के अनुमार वर्गीकरण करता है। मानसिक अनुभूतियों का दूसरा प्रकार स्मृत्यात्मक है। अनुकूल बढ़ना अथवा प्रिय वस्तु की स्मृति मुख देखी है और प्रतिकूल की दुःख। अनुकूलता और प्रतिकूलता का आधार राग-हेष, मोह आदि संस्कार होते हैं। मुख या दुख स्वतंत्र वस्तु नहीं है, किन्तु अनुकूल तथा प्रतिकूल अनुभूतियों का नाम ही क्रमशः मुख या दुख है। अतः मन को प्राव्यक्तारी कहना ठीक नहीं है। न्यायदर्शन इसके लिए अनेक प्रकार के संनिकर्णों की कल्पना करता है। तात्त्विक दृष्टि से उनका विशेष महत्व नहीं है।

पृष्ठ ८, पं. ७ इसिथेत्; शृणु—बहुमान मनोविज्ञान ने मन के तीन कार्य माने हैं-ज्ञान, संवेदन और इच्छा। संवेदन का अर्थ है सुख-दुःख, अनुकूल-प्रतिकूल आदि की अनुभूति। मन जब संवेदन तथा इच्छालक्षण कार्य करता है, उस समय उन बातों से प्रभावित भी होता है। विविध इच्छाएँ मनपर विविध प्रभाव डालती हैं, किसी इच्छा एवं संवेदन से मन प्रसन्न होता है और किसी से अप्रसन्न। किन्तु ज्ञान अनुकूल वस्तु का हो या प्रतिकूल का उससे इस प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता। यशोविजय ने भी मन का यह वर्गीकरण किया है। ज्ञान की अवस्था में वस्तुद्वारा प्रभावित न होने के कारण मन अप्राप्यकारी है। अन्य अनुभूतियों में ज्ञान के साथ रागहेष आदिका सम्मिश्रण हो जाता है। उन्हीं के कलम्बवल्प अनुकूलता या प्रतिकूलता का भाव होता है।

पृष्ठ ९, पं. ९ क्षयोपशमदपस्तवेम-मानसिक ज्ञान में व्यञ्जनावग्रह के अभाव का समर्थन करते हुए यशोविजय ने एक अनुमान दिया है। उनका कथन है कि मन प्रथमश्रण में ही वस्तु को ग्रहण कर लेता है। उसकी ज्ञानशून्य अवस्था नहीं होती। इसके विपरीत स्पर्शन आदि इंद्रियों ज्ञानशून्य अवस्था में भी रहती है। हमारा हाथ किसी वस्तु को छूता है, किन्तु यदि मन दूसरी ओर लगा है तो उस की अनुभूति नहीं होती। इसी ज्ञानशून्य अवस्था का नाम 'व्यञ्जनावग्रह' है। यह अवस्था केवल चार इंद्रियों में होती है। एक बात और है-स्पर्शन आदि इंद्रियों संबंधित वस्तु के साथ संपर्क स्थापित करती है और उसके पश्चात् ज्ञानने का कार्य प्रारंभ होता है। इसके विपरीत मन की किया जानने से ही प्रारंभ होती है। उस संपर्क स्थापित करने की आवश्यकता नहीं होती।

पृष्ठ १०, पं. ५ स्वरूप-अर्थावग्रह की परिभासा करते हुए बताया गया है कि वहीं केवल वस्तु का भाव होता है। नाम, जाति, गुण आदि की प्रक्षेपिता नहीं होती। बीदर्शन में इसी की प्रत्यक्ष कहा गया है। वहीं उसकी व्याख्या है—‘कल्पनापोदमभ्रातं प्रत्यक्षम्’ (धर्मकीति, न्यायविदु)। बीदरों का कथन है कि उत्तरवर्ती कल्पनाएँ मन का काम हैं। वे बल्कि वस्तु में नहीं रहती। इसके विपरीत जैनदर्शन का कथन है कि वे यभी वस्तु में रहती हैं, किन्तु उनकी अस्तिव्यक्ति क्रमशः होती है। न्यायदर्शन समिकर्ष के

परमात्मा निविकल्पक भान को भाजता है, किंतु उसकी व्याज्ञा मिळ प्रकार से करता है। वही बस्तु और उसका विषेष धर्म, घट और घटस्व दोनों प्रतीत तो होते हैं, किंतु उनमें परस्पर संबंध का भान नहीं होता । उसका विषेष धर्म, घट और घटस्व दोनों प्रतीत तो होते हैं, किंतु उनमें परस्पर संबंध का भान नहीं होता । इसके विपरीत जैनदर्शन का कथन है कि प्रथम क्षण में केवल बस्तु का यह भान तृतीयक्षण में होता है। इसके विपरीत जैनदर्शन का कथन है कि प्रथम क्षण में केवल बस्तु का भान होता है, और वैशिष्ट्य का उत्तरवर्ती क्षणों में ।

पृष्ठ १०, पं. ६ कथं तत्त्व-निविकल्प में अवग्रह की व्याख्या में अप्या है—सि जहा नामए केह पुस्तिसे अवश्वत्त सदृं सुणेज्जा तेण सदेति उम्माहए, न उण आणाह वै द्वारा दद्याह ति' अर्थात् ऐसे किसी पुस्ति ने अवश्वत्त सदृं सुणेज्जा तेण सदेति उम्माहए, न उण आणाह वै द्वारा दद्याह ति' यहीं प्रश्न होता अवश्वत्त शब्द सुना। उसे यह भान नहीं होता कि वह किसका शब्द है? यहीं अवग्रह है। यहीं प्रश्न होता अवश्वत्त शब्द सुना। उत्तर में आचार्य का कथन है कि जिस प्रकार चक्र से बोने वाले अवग्रह में आकार वर्गीकरण नहीं होता। उत्तर में आचार्य का कथन है कि जिस प्रकार चक्र से बोने वाले अवग्रह में आकार का भान होने पर भी यह पता नहीं चलता कि वह किसका है। इसी प्रकार औन से होने वाले अवग्रह में केवल चक्र का भान होता है। वह किसका है या क्या कह रहा है, इत्यादि का भान नहीं होता।

पृष्ठ १३, पं. ६ मन्त्रवाप्त्वहेऽपि भिन्नतरादि..... भेद-प्रभेद द्वारा बस्तु का समझना भारत की प्राचीन परिपाठी है। प्रद्युमन परंपरा ने इस शैली को अपनाया है। बहुत बार ऐसा भी हुआ है कि भेद-प्रभेदों को अवश्वत्त सदृं सुणेज्जा तेण सदेति उम्माहए, न उण आणाह वै द्वारा दद्याह ति' अर्थात् जिसने अधिक भेद किए वह उत्तमा ही सूक्ष्म विवेचक समझा लेकर परम्परा, प्रतिस्थार्द्वा चक्र पढ़ी और जिसने जितने अधिक भेद किए वह उत्तमा ही सूक्ष्म विवेचक समझा गया। उनीं प्रतिस्थार्द्वा के काशण जैनशास्त्रों में प्रतिज्ञान के भेदों की संख्या १३६ तक पहुँच गई। सर्वप्रथम गया। उनीं प्रतिस्थार्द्वा के काशण जैनशास्त्रों में प्रतिज्ञान के भेदों की संख्या १३६ तक पहुँच गई। सर्वप्रथम चार भेद किए गए—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। अवग्रह के पुनः दो भेद हो गए—अथविग्रह और चार भेद किए गए—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। अवग्रह के पुनः दो भेद हो गए—अथविग्रह और चार भेद किए गए—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। अवग्रह के उन्हें भेद हो गए। इन उन्हाँसे भेदों के द्वारा होने के कारण अवज्ञनावग्रह। अवज्ञनावग्रह मन और चक्र के द्वारा नहीं होता। ये चार इदियों के द्वारा होने के कारण अवज्ञनावग्रह। अवज्ञनावग्रह में तो अप्य का भान ही नहीं होता, ऐसी स्थिति में यह भेद किए किए जा सकते हैं। है। अवज्ञनावग्रह में तो अप्य का भान ही नहीं होता, ऐसी स्थिति में यह भेद किए किए जा सकते हैं। अप्योविज्ञ वों सूक्ष्मदहसित इस असामंजस्य पर पहुँची और उन्होंने भी इमका अनुभव किया। दूसरी ओर अप्योविज्ञ वों सूक्ष्मदहसित इस असामंजस्य पर पहुँची और उन्होंने भी इमका अनुभव किया। अन्य उन्होंने उत्तरकालीन विज्ञान के प्राधार पर अवग्रह में भी इन परंपरा के प्रति अद्वा बती हुई थी। अन्य उन्होंने उत्तरकालीन विज्ञान के प्राधार पर अवग्रह में भी इन भेदों का समर्थन किया। उन्होंने स्फट कहा है कि वास्तव में वे अपाय के भेद हैं, किंतु कारण में कार्य का उपचार करते उन्हें अवग्रह के भेद भी भान लिया गया।

पृष्ठ १३, पं. ९ (अवग्रहो विविधः)—उपर्युक्त समस्या का एक और गमाधार प्रस्तुत किया गया। उन्होंने अवग्रह के दो भेद कर दिए नैश्वयिक और व्यावहारिक। नैश्वयिक अवग्रह ज्ञान की प्रथम अवस्था है। वहीं अन्य भेदों का संभव नहीं है। किंतु व्यावहारिक अवग्रह सारेथा है। प्रत्येक ज्ञान में हम उत्तरोत्तर हैं। उदाहरण सूक्ष्मता की आर आते हैं और प्रत्येक नवीन तत्त्व सर्वप्रथम अवग्रह के रूप में उपस्थित होता है। उदाहरण सूक्ष्मता की आर आते हैं और प्रत्येक नवीन तत्त्व सर्वप्रथम अवग्रह के रूप में उपस्थित होता है। उपस्थित होता है। कोई अन्य के रूप में हमने किसी दूरवर्ती बस्तु को देखा। द्वितीय क्षण में सदेह हुआ कि वह मनुष्य है या कोई अन्य जैसा बस्तु? तृतीय क्षण में संभावना होने लगी कि मनुष्य होता चाहिए और अन्य क्षण में निश्चय हो गया कि वह मनुष्य ही है। संभय के पूर्ववर्ती क्षण को अवग्रह कहा जायगा। और उत्तरवर्ती दो क्षणों को क्या? ऐसा जैसा वहले राम का अवग्रह होता है और उसके पश्चात् ईहा तथा अवाय। इसी प्रकार ज्ञान-ज्ञान जिज्ञासा वहली है और हम सामग्र्य से विशेष की ओर जाते हैं, अवग्रह ईहा अद्वि चारों अवस्थाएं नवा हा लेती रहती है। इन उत्तरवर्ती अवस्थाओं को लेकर अवग्रह के भी १२ भेद किए जा सकते हैं।

पृष्ठ १३, पं. ५ स. ४ व दृढ़-शोविजय के धारणा की तोन अवस्थाओं में विभक्त किया है—अविष्युति, बासना और स्मृति। अविष्युति का अर्थ है—अनुभूति का स्थानी होना। बासना का अर्थ है—उसका संस्कार के रूप में परिणत होना। जब वह संस्कार पूर्ण उद्बुद्ध हो जाता है तो उसे 'स्मृति' कहा जाता है। वर्तमान मनोविज्ञान का कथन है कि हमारे मन पर पड़ने वाला कोई प्रभाव समाप्त नहीं होता। जब तक वह चेतन मन में रहता है, उसका भान होता रहता है। अचेतन मन में जाकर वही संस्कार के रूप में पाठ रहता है और अवसर आने पर पूर्ण उद्बुद्ध हो जाता है। इन्हीं अवस्थाओं को यहीं क्रमशः 'बासना' तथा 'स्मृति' कहा गया है। यहाँ एक प्रश्न होता है कि जैन दृष्टि से वे संस्कार कहाँ रहते हैं? इसके उत्तर में जैनदर्शन मन तथा समस्त इंद्रियों को दृश्य तथा भाव के रूप में विभक्त करता है। द्रव्येन्द्रिय तथा द्रव्यमन जड़ हैं। भावेन्द्रिय तथा भावमन भृत्यस्वरूप हैं। समस्त संस्कार आत्मा में रहते हैं। उन्हीं को कार्मण शरीर कहा जाता है। यह रास्कार, अपने आप में जड़ होने पर भी आत्मा की प्रशावित करते रहते हैं। वर्तमान मनोविज्ञान में जो स्थान अचेतन मन का है, वहीं जैनदर्शन में कर्मयुक्त आत्मा का।

पृष्ठ १५, पं. ६ के चित्त अपनयन-विसी-हिसी आचार्य ने अपाय और धारणा का स्वरूप बतारे हुए कहा है कि अपाय निषेधात्मक होता है और धारणा विद्यात्मक। इहाँ में विशेष रूप से ज्ञानमें की इच्छा होती है। उसके पश्चात् ज्ञाता वस्तु का विभेदन नहीं है। गर्वप्रथम इतर वस्तु का अपायन करता है। उदाहरण के रूप में जब सामने खड़े अविक्षित को हाथ-पैर आदि हिलाते देखता है तो इस निषेध पर पहुँचता है कि वह 'स्थाणु' नहीं हो सकता। इसी अपनयन का नाम 'अपाय' है। उसके पश्चात् विद्यात्मक निषेध करता है कि वह मनुष्य ही है यह 'धारणा' है। यह निषेध पर पहुँचने की वैज्ञानिक प्रक्रिया है। गर्वप्रथम सामान्य ज्ञान होता है। उसके पश्चात् विजेता की जिज्ञासा होती है। तदावचात् व्यावर्तक धर्मों के प्राधार पर पक्षांतर का आलाप किया जाता है और उसके पश्चात् विद्यात्मक निषेध पर पहुँचते हैं। इन्हीं को जैनदर्शन में क्रमशः अविष्युति, इहा, अपाय और धारणा के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

यशोविजय का कथन है कि अपाय सर्वेत्र निषेधात्मक नहीं होता। वह कहीं विभिन्न प होता है और कहीं निषेधरूप और कहीं उभयरूप। हाथ-पैर आदि जोनों का संचालन जिस प्रकार स्थाणुत्र का व्यावर्तक है उसी प्रकार मनुष्यत्व का प्रतिगामक भी हो सकता है। यह जाना पर निर्भर है। कि उसे किस प्रकार की प्रतीक्षि होती है। ऐसी स्थिति में विधि अवदा निषेध दोनों को अपाय कहा जायगा। वास्तव में देखा जाय तो यहीं दो शब्द मिलते हैं: अपाय और अवाय। अपाय का शाविदक-अर्थ निषेधात्मक है। जैसे अपनयन, अपसरण, अपगम इत्यादि। किन्तु अब-उपसर्ये निषेधात्मक नहीं है। वह केवल निषेध तथा मर्यादा को प्रकट करता है जैसे अवगम, अवस्थित इत्यादि। अवाय में ज्ञान निषेधात्मक और मर्यादित हो जाता है। और उसमें विधि तथा निषेध दोनों तत्त्व रहते हैं।

पृष्ठ १६, पं. १ अव्यया रूपते-अवाय की निषेधात्मक तथा धारणा को विद्यात्मक मत्त से न पर एक आपत्ति खड़ी होती है। ऐसी स्थिति में अविष्युति, बासना और स्मृति के रूप में धारणा की जो व्याख्या की गई है, उसे अतिरिक्त कोटि में रखना होगा। फलस्वरूप सतिज्ञान के पाँच भेद हो जाएंगे।

वास्तव में देखा जाय तो अविष्युति और बासना को ज्ञान के भेदों में नहीं रखा जा सकता। क्योंकि स्मृति के सहायक है, उपर्योग-इण नहीं है। स्मृति अपने आप में एक नया ज्ञान है। पूर्णांग उद्धरें सहायक होता है, किन्तु वह उसकी अवस्था-विशेष नहीं है। प्रत्येक ज्ञान अपना कार्य पूरा करके जाता है। नये ज्ञान में, चाहे वह पूर्वानुभूत वस्तु का ही हो, पुनः क्ये अवगम आदि होते हैं। स्मृति आनन्द-ज्ञान है। उसमें जी जारी अवस्थाएँ स्वतंत्र रूप से होती हैं। ऐसी स्थिति में यदि निषेध और विधि दोनों को अपाय या

लिया गया, तो मानवजन के दीन ही भेद रह जाएंगे। अतः अबाय और धारणा की अभ्यासः निषेध और विधिस्था मानना अधिक उपयुक्त है। इसके उमर में यशोविजय का कथन है कि यदि ज्ञान अवाय तक ही सीमित रहे और वास्तव या संस्कार के रूप में परिणत न हो तो वह स्मृति का उत्पादक नहीं हो सकता। अतः स्मृति को बहुप्र करने के लिए ज्ञान की एक ऐसी अवस्था माननी होगी जो हड्डीभूत होकर संस्कार छोड़ जानी है। यही धारणा है। जहाँ तक ज्ञेय का प्रश्न है, अबाय उसे पूरी तरह जान लेता है। धारणा में वही हड़ होकर संस्कार का रूप ले लेता है।

पृष्ठ २०, पं. ५ सम्यक्-सम्यक्-श्रूत और मिथ्या-श्रूत का विभाजन दो आधारों पर दिया जाता है। प्रथम आधार व्यक्तिनिष्ठ है और द्वितीय वस्तुनिष्ठ। आनन्दिक (परामर्श) व्यक्तिनिष्ठ आधार की अधिक महत्व देती है। उसका कथन है कि सम्यक्-इष्टि का समस्त ज्ञान सम्यक् होता है और मिथ्या-इष्टि का मिथ्या। ऐसी हिति में आचारांग आदि जैनशास्त्र भी मिथ्या-इष्टि द्वारा गृहीत होने पर गिर्या है और सम्यक्-इष्टि द्वारा गृहीत होने पर सम्यक्। वस्तुनिष्ठ आधार में आचारांग आदि जैनशास्त्रों को सम्यक्-श्रूत कहा गया और सहायात्रा, समाधान आदि जैनेत्र ग्रंथों को मिथ्याश्रूत। प्रथम व्याख्या उपरोक्तिता को अक्षय में रखती है। सम्यक्-इष्टि अपने ज्ञन का उपरोक्त आत्मविकास में करता है। अतः उसका प्रत्येक ज्ञान सम्यक् है। दूसरी ओर मिथ्या-इष्टि उसका उपरोक्त आत्मप्रत्यक्ष में करता है। अतः उसका प्रत्येक ज्ञान मिथ्या है। पादनाल्य दर्शनों में इस इष्टिकोण को डायोगितावाद Pragmatism कहा गया है। जिसका विकास अपरीका में हुआ है। दूसरे शब्दों में इस कलमूलक व्याख्या कहा जायगा। तर्कयुग में व्यक्तिनिष्ठ व्याख्या का स्थान चस्तुनिष्ठ व्याख्या ने ले लिया। उस समय यह कहा गया कि जो ज्ञान घट की घट कहता है, वह सम्यक् है। ज्ञाना सम्यक् इष्टि हो शा मिथ्या द्विष्टि इसने ज्ञानके सम्यक्त्व में कोई बाधा नहीं पड़ती। इस आधार पर सत्य के प्रतिपादक हृति के कारण जैनशास्त्रों को सम्यक्-श्रूत कहा गया और असत्य के प्रतिपादक सौने के कारण जैनेत्र ग्रंथों को मिथ्याश्रूत।

पृष्ठ २४, पं. ४ योगजधर्मनिगृहीत-न्यायवर्णन प्रत्येक ज्ञान में आत्मा और मन के संयोग को ज्ञानस्थक मानता है। सूक्ष्म-अवस्था में यह संयोग नहीं रहता, अतः ज्ञान भी नहीं होता। योगज अथवा अतीनिदिव प्रत्यक्ष के लिए भी यह संयोग आवश्यक है। किन्तु जैनदर्शन के अनुमार ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है। प्रत्येक आत्मा आने आए में सर्वज्ञ और सर्वदग्नी है। ज्ञान के लिए उन मन, इत्रिव आदि किसी बाह्य कारण की अपेक्षा नहीं होती।

वेदांत में अविद्या के दो रूप माने गए हैं—मूलाविद्या और तूलाविद्या। मूलाविद्या का नाश आत्मसाक्षात्कार होने पर ही होता है। उसकी निवृत्ति आंशिक रूप से नहीं होती। घट-घट आदि बाह्य वस्तुओं के ज्ञान में तूलाविद्या आंशिक रूप से हट जाती है और मन का व्यापार घट होने पर पुनः आवरण लाल देती है। यशोविजय ने भी ज्ञानावरण की व्याख्या इसी प्रकार की है। केवलज्ञानवरण मूलाविद्या के मकान है, जो एक ही बार हटता है। प्रथम चार ज्ञानों के आवरण तूलाविद्या के समान हैं, जो आंशिक रूप से हटते हैं और पुनः आत्मा को आवृत्त कर लेते हैं। इसीलिए जैनदर्शन में माना गया है कि प्रयत्न चार ज्ञान सतत नहीं रहते ‘जब मन में ज्ञानके इच्छा होती है तभी आवरण रहता है और उन्हका आविर्भव होता है। इसके विपरीत केवल ज्ञान एक बार उत्पन्न होने पर न घट नहीं होता और सतत बना रहता है। आंशिक निवृत्ति के कारण प्रथम चार ज्ञानों में तरामता रहती है। किन्तु केवल ज्ञान में नहीं रहती। वह सर्वत्र एक सा होता है।

पृष्ठ २५, पं. २ तत्त्व स्मरण-जैनदर्शन में परोक्ष के पांच भेद किए गए हैं—स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तत्त्व,

अनुमान और आगम। अनुमान को वार्तिक के अतिरिक्त सभी दर्शनों ने प्रमाण माना है। औदू तथा वैक्षेपिक दर्शनों ने तीन शब्दों को प्रमाण नहीं माना। रामेय दर्शन आगम को भी प्रमाण मानता है। न्यायदर्शन अस्तु तीन के अतिरिक्त उत्तमान को भी जो प्रत्यभिज्ञान का ही कागांतर है। प्रभाकर ने इन चार के अतिरिक्त अर्थापिति नामक स्वतंत्र प्रमाण माना है वास्तव में देखा जाय तो यह अनुमान का ही एक प्रकार है। बेदांत और अटू मीमांसकों ने अभावनामक छठा प्रयोग माना है। अन्य दर्शन इसे भी अनुमान में सम्मिलित करते हैं। जैनदर्शन ने स्मरण और तर्क को भी प्रयोग माना है। जिस अन्य दर्शनों ने स्वीकार नहीं किया। उनका कथन है कि प्रमाण का कार्य है—अज्ञात वस्तु का ज्ञान कराना। स्मरण में जिस वस्तु का ज्ञान होता है, वह अज्ञात नहीं होता। पूर्वानुष्ठान के कारण उसके ज्ञान को प्रमाण नहीं कहा जा सकता। उत्तर में जैनदर्शन का कथन है कि वस्तु ज्ञान हो या अज्ञात यदि प्रतीतिसत्य है तो उसे प्रमाण मानना चाहिए तो अज्ञातता की प्रामाण्य का नियमक नपय नहीं यानना चाहिए। तर्क का अर्थ है—व्याप्ति का ज्ञान। जहाँ-जहाँ धूम है, वही अग्नि होती है। अग्नि व्यापक है और धूम व्याप्ति। इसी ज्ञान को तर्क कहा जाता है। न्यायदर्शन इसका प्रतिपादन दूसरे रूप में करता है। उसका कथन है कि व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा होता है हम अनेक स्थानों पर धूम और अग्नि को एक साथ देख कर इस परिणाम पर पहुँचते हैं। किर भी घन में सदैह रह जाता है कि संभव है कहीं धूम हो और अग्नि न हो, इस सदैह का निराकरण तर्क करता है। उसका कथन है कि धूम अग्नि का कार्य है। जहाँ कार्य होता है, कारण अवश्य होता है। कार्य-कारण भाव के इस शाद्वल मिथ्यात्मक के आधार पर धूम को व्याप्ति और अग्नि को व्यापक माना जाता है। साथ ही वह भी तर्केश्वर का नियम है कि जहाँ व्याप्ति होता है, व्यापक अवश्य रहता है। न्यायदर्शन इस तर्क को नीचे लिखे शब्दों में अपस्थित करता है—

‘यदि धूमो वहिनव्याप्तिः न स्यात् वर्द्धिनजन्यो न स्यात्।’ अर्थात् धूम यदि अग्नि का व्याप्ति नहीं है तो कार्य भी नहीं हो सकता। उसका कार्य होना व्याप्ति होने को सिद्ध करता है। जैनेतरदर्शनों का कथन है कि तर्क के द्वारा कोई नूतन ज्ञान नहीं होता, अतः उसे प्रमाणकोटि में नहीं रखा जा सकता। किर भी सभी ने उसे अनुमान का जीवनदाता माना है। इसी प्रकार सूनि, उगमान तथा अनुमान दोनों को जीवनप्रदान करती है। जैनदर्शन अप्रमाण का अर्थ मिथ्याज्ञान करता है। और इसी आधार पर समृति तथा तर्क को अप्रमाण कोटि में नहीं रखता। जैनेतरदर्शन इन दोनों को मिथ्याज्ञान न होने पर भी अज्ञातवस्तु के जारक न होने के कारण प्रमाण नहीं मानते।

स्मृति को प्रमाणसिद्ध करते समय यशोविज्ञय ने पूर्वपक्ष के रूप में दो तर्क उपस्थित किए हैं। प्रथम तर्क यह है कि स्मृति में ‘स देवदत्तः’ इस प्रकार का ज्ञान होता है। इसमें देवदत्त विदेशी है और स विजेता। जोकि देवदत्त की परोक्षता और अतीतता की सूनित करता है। परोक्षता के संबंध में कोई विवाद नहीं है, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि स्मृति के समय देवदत्त अतीत हो चुका हो। उस समय भी वह अतीत हो सकता है। ऐसी स्थिति में अतीतत्व की प्रतीति सम्यक् नहीं कही जा सकती। यशोविज्ञय का कथन है कि यह विशेषण अर्द्धत्र विशेषण की अतीतता का वोधक नहीं है। यहाँ अतीतता का संबंध विषय के साथ न होकर उसे प्रतीति के साथ है, जो भहले ही चुकी है। यदि तत् का कार्य केवल परोक्ष किया जाए तब भी यह आपत्ति नहीं रहती। पूर्व पक्ष की दूसरी युक्ति यह है कि स्मृति का प्रामाण्य प्रत्यक्ष के प्रामाण्य पर निर्भर है। यदि प्रत्यक्ष अद्भाव है तो उसकी सूनि भी अस्तित कही जायेगी। इसके विपरीत यदि वह मिथ्या है तो उसकी भी विद्या होगी। इस प्रकार स्मृति का प्रामाण्य स्वतंत्र नहीं है। अतः उसे प्रमाण नहीं मानना चाहिए। उत्तर में यशोविज्ञय का कथन है कि अनुमान का प्रामाण्य भी व्याप्तिज्ञान के प्रामाण्य पर निर्भर होता है, किर भी उसे प्रमाण माना जाता है। अतः प्रामाण्य का आधार स्वतंत्र न होकर ज्ञान की व्याप्ति, है और इस आधार पर स्पृति को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता।

पृष्ठ २६, पं. ६ अनुभवसमूलिहेतुक—प्रत्यधिकाराम्—जीनेतर दर्शनों में प्रत्यधिका शब्द का अक्षीण साधना के क्षेत्र में मिलता है। कहमीर की शैवसाधना को प्रत्यधिका-दर्शन कहा जाता है। वहाँ यह अप्रोग साधना के क्षेत्र में मिलता है। कहमीर की शैवसाधना को प्रत्यधिका-दर्शन कहा जाता है। अपने आप में शिव हीने पर भी जाना गया है कि प्रत्येक जीव शिव अर्थात् परमात्मा का संकुचित रूप है। अपने आप में शिव हीने पर भी जाना गया है कि प्रत्येक जीव शिव अर्थात् परमात्मा का संकुचित रूप है। अपने आप में शिव हीने पर भी जाना गया है कि प्रत्येक जीव या पशु आने रहा है। उसके बारे होते ही अपने स्वरूप को पहचान लेता है और अपने जीव या पशु आने रहा है। इसी पहचान को प्रत्यधिका कहा गया है।

लौकिकज्ञान के क्षेत्र में इसके स्थान पर उपमान शब्द का प्रयोग मिलता है। इसका अर्थ है—तुलना के द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान। किसी व्यक्ति को कहा जाता है कि 'गवय' गाम के सदृश होता है। वहाँ अन्य तथा बन में जाकर वह गो-सदृश प्राणी को देखता है और समझ लेता है कि वह गवय है। न्याय तथा बन में जाकर वह गो-सदृश प्राणी को देखता है और समझ लेता है कि वह गवय है। सांख्यदर्शन इसकी परिभाषा इसी रूप में करते हैं। किंतु जैनदर्शन इसकी व्याख्या व्यापक रूप में करता है। सांख्यदर्शन इसकी परिभाषा इसी रूप में करते हैं। किंतु जैनदर्शन इसकी व्याख्या व्यापक रूप में करता है। उदाहरण के चलका कथन है कि प्रत्यक्ष और स्मृति से उत्पन्न होने वाले सभी अनुभव प्रत्यधिकान हैं उदाहरण के चलका कथन है कि प्रत्यक्ष और स्मृति से उत्पन्न होने वाले सभी अनुभव प्रत्यधिकान हैं उदाहरण के चलका कथन है कि प्रत्यक्ष और स्मृति से उत्पन्न होने वाले सभी अनुभव प्रत्यधिकान हैं। यह एकत्र-प्रत्यधिकान है। रूप में एक ही व्यक्ति को युवारा देखकर हम कहते हैं "यह वही देवदत्त है"। यह एकत्र-प्रत्यधिकान है। रूप में एक ही व्यक्ति को युवारा देखकर हम कहते हैं—"यह देवदत्त नहीं है"। दो भाइयों में से एक को देखकर कहते हैं—यह उस भजनदत्त को देखकर हम कहते हैं—"यह देवदत्त नहीं है"। दो भाइयों में से एक को देखकर कहते हैं—यह उस भजनदत्त को देखकर हम कहते हैं—"यह देवदत्त नहीं है"। यह जाते हैं। एकत्र-प्रत्यधिकान से आजाते हैं। सहीखा है। इस प्रकार एकत्र, वैसाहश्य तथा साहश्य आदि भभी तुलनात्मक ज्ञान प्रत्यधिकान से आजाते हैं।

पृष्ठ २९, पं. २ एतेनेति—मीमांसक भी उपमान की व्याख्या में लाइश्य को ज्ञावश्यक नहीं मानते। उनका कथन है कि इसके लिए संज्ञा और संज्ञि का संबंध पर्याप्त है। हम किसी व्यक्ति को ज्ञाते हैं कि उनका कथन है कि इसके लिए संज्ञा और संज्ञि का संबंध पर्याप्त है। हम किसी व्यक्ति को ज्ञाते हैं कि उनका कथन है कि इसके लिए संज्ञा और संज्ञि का संबंध पर्याप्त है। यह जाते हैं। यह एकत्र गवय ऐसा होता है। बन में जाकर वह उस लक्षणवाले प्राणी को देखता है और पहचान जाता है। यह जान लक्षण के आधार पर होता है। साहश्य के आधार पर नहीं।

पृष्ठ ३०, पं. ८ उद्गृहप्रमुकता—न्यायित दो प्रकार की होती है। संग्राधिक और निश्चाधिक। यहाँ साध्य किसी अन्य तत्त्व के बिना हेतु को व्याप्त करता है, उसे निश्चाधिक-न्यायित कहा जाता है। जैसे— साध्य किसी अन्य तत्त्व के बिना हेतु को व्याप्त करता है, उसे निश्चाधिक-न्यायित कहा जाता है। जैसे— अग्निद्वारा धूम की व्याप्ति। यहाँ धूम है, वहाँ अग्नि अवदार होती है। इसके लिए अग्नि को किसी अन्य तत्त्व की व्याप्ति होनी होती है। अतः यह निश्चाधिक-न्यायित है। इसके विपरीत धूम अग्नि की तभी व्याप्त करता है को अपेक्षा नहीं होती। अतः यह निश्चाधिक-न्यायित है। इस संबंध को संग्राधिक कहा जाता है। यहाँ यव उसके साथ आई ईघन हो। यहाँ आई ईघन उपाधि है। इस संबंध को संग्राधिक कहा जाता है। साध्य किसी उपाधि के बिना हेतु को व्याप्त करता है, उस संबंध को संग्राधिक कहा जाता है। यहाँ एक हेतु को सम्पर्क माना जाता है, वही सोधाधिक होने पर हेतुवाभास हो जाता है।

पृष्ठ ३१, पं. २ अथ स्वव्यापक—उपर बताया जा चुका है कि व्यायित-ज्ञान के बिना अनुमान नहीं हो सकता। हम दस-बीस स्थानों पर धूम और अग्नि को एक साथ देखते हैं और इसके द्वारा यह निश्चय करते हैं कि यहाँ धूम होगा, वहाँ अग्नि अवश्य होगी। यहाँ प्रश्न होता है कि कुछ स्थानों पर साहचर्य दर्शन करते हैं कि यहाँ धूम होगा, वहाँ अग्नि अवश्य होगी। यहाँ प्रश्न होता है कि कुछ स्थानों पर साहचर्य दर्शन करते हैं कि यहाँ धूम होगा, वहाँ अग्नि अवश्य होगी। यहाँ प्रश्न होता है कि कुछ स्थानों पर साहचर्य दर्शन करते हैं कि यहाँ धूम होगा, वहाँ अग्नि अवश्य होगी। यहाँ प्रश्न होता है कि कुछ स्थानों पर साहचर्य दर्शन करते हैं कि यहाँ धूम होगा, वहाँ अग्नि अवश्य होगी। यहाँ प्रश्न होता है कि कुछ स्थानों पर साहचर्य दर्शन करते हैं कि यहाँ धूम होगा, वहाँ अग्नि अवश्य होगी। यहाँ प्रश्न होता है कि कुछ स्थानों पर साहचर्य दर्शन करते हैं कि यहाँ धूम होगा, वहाँ अग्नि अवश्य होगी। यहाँ प्रश्न होता है कि कुछ स्थानों पर साहचर्य दर्शन करते हैं कि यहाँ धूम होगा, वहाँ अग्नि अवश्य होगी। यहाँ प्रश्न होता है कि कुछ स्थानों पर साहचर्य दर्शन करते हैं कि यहाँ धूम होगा, वहाँ अग्नि अवश्य होगी। यहाँ प्रश्न होता है कि कुछ स्थानों पर साहचर्य दर्शन करते हैं कि यहाँ धूम होगा, वहाँ अग्नि अवश्य होगी। यहाँ प्रश्न होता है कि कुछ स्थानों पर साहचर्य दर्शन करते हैं कि यहाँ धूम होगा, वहाँ अग्नि अवश्य होगी। यहाँ प्रश्न होता है कि कुछ स्थानों पर साहचर्य दर्शन करते हैं कि यहाँ धूम होगा, वहाँ अग्नि अवश्य होगी।

अथ स्वव्यापकसाध्य—सम्भवाधित चेत्—इसके विपरीत न्यायदर्शन का कथन है कि प्रत्यक्ष ही व्यायित को प्रहण करता है। यहाँ पूछा जाता है कि वेक्षु आदि इंद्रियों के द्वारा धूम और अग्नि के सामान्यविकरण को संबंध कैसे जाना जा सकता है? क्योंकि इंद्रियों का संबंध कुछ ही स्थानों के साथ ही सकता है। उत्तर में न्यायदर्शन का कथन है कि यद्यपि रौद्रिक संनिकर्ष कुछ ही स्थानों पर होता है, साधारण सामान्यलक्षण-

नामक प्रत्यामनि के द्वारा सावेषित समय को जानना होता है। इनदर्शन सा उत्तम है कि तर्क या ऊह के बिना सामान्यलक्षणप्रत्यासृति संबंध नहीं है—इसकी व्याख्या दो प्रकार से की जाती है। सामान्य का ज्ञान या ज्ञानसान सामान्य। किन्तु यहाँ प्रश्न होता है कि अब तक समस्त व्यक्तियों का प्रत्यक्ष नहीं होता तब तक उसमें रहनेवाले सामान्य का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? इसके लिए एक ही उपाय है कि विचार का व्यालिंगन के रूप में पृथक् ज्ञान माना जाय। उसी को जैनदर्शन में ऊह या तर्क कहा गया है।

पृष्ठ ३३, पं. ७ आहार्यप्रसंबन्ध—धूम को देखकर अग्नि का अनुभान किया जाता है। धूम व्याप्त है और अग्नि व्यापक। अनुभान का समर्थन करने के लिए यह कहा जाता है कि जहाँ व्यापक नहीं होता वहाँ व्याप्त भी नहीं होता। यहाँ व्यापक अर्थात् अग्नि ज्ञान अभाव व्याप्त हो जाता है और व्याप्त अर्थात् धूम का अभाव व्यापक। व्याप्तिनिश्चय के लिए होनेवाली इस प्रतीति को आहार्य ज्ञान कहा जाता है। क्योंकि उसका कोई विषय नहीं होता।

पृष्ठ ३३, पं. ८ विरोधि शंका—‘स्वाणुर्दा पुरुषो वा’ इस संशय में दो कोटियों का ज्ञान होता है। प्रतीति के सम्बन्ध होने पर एक कोटि का प्रत्यक्ष हो जाता है और ‘स्वाणुरेवायम्’ यह प्रतीति होने लगती है। इसके साथ ही ‘न पुरुषः’ इस प्रकार निराकरण भी होता है। यहाँ प्रश्न होता है—प्रत्यक्ष तो विभागात्मक होता है, फिर निराकरण किस ज्ञान का विषय है? जैनदर्शन इसके लिए तरंगनामक प्रमाणांतर उपस्थित करता है। न्यायदर्शन विशेषज्ञतानामक सविकर्षण द्वारा अभाव का सी प्रत्यक्ष मानता है। उसका कथन है कि ‘वदाभाववद् भूतल’ इस ज्ञान में चक्षु का संबंध भूतल के साथ होता है और वदाभाव भूतल का विशेषण है, अतः उसका भी प्रत्यक्ष हो जाता है। ‘स्वाणुर्यन् पुरुषः’ इस ज्ञान में ‘पुरुषाभाव’ ‘इदं’ अर्थात् पुरोर्वती वस्तु का विशेषण है।

पृष्ठ ३४, पं. ३ इतर्थ च—न्यायदर्शन का कथन है कि तर्क का कार्य विरोधी शंका को दूर करता है। धूमद्वारा अग्नि के अनुभान में यह शंका हो सकती है कि धूम होने पर भी अग्नि न हो! तर्क इस शंका का निराकरण करता है। वह कहता है कि अग्नि के बिना धूम का अस्तित्व तभी हो सकता है यदि वह अग्नि का व्याप्त न हो, किन्तु अग्नि का कार्य होने के कारण वह उसका व्याप्त भी है। अतः अग्नि के बिना उसका अस्तित्व संभव नहीं है। इस प्रकार तर्क व्यभिचार शंका का निराकरण करता है। स्वर्तंक रूप से किसी नए ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता। इसीलिए प्रमाण नहीं है। किन्तु घर्मभूषण ने तर्क को ज्ञान का निवर्तक घोषित करता है। यशोदिज्य का कथन है कि यहाँ ज्ञान का अर्थ व्यभिचारशंका है, ज्ञानाभाव नहीं। ज्ञान का अर्थ है—निश्चयात्मक प्रतीति। निश्चयात्मक न होने के कारण संशय भी ज्ञान ही है और उसका निवर्तक होने के कारण तर्क को प्रमाण गाना जा सकता है।

पृष्ठ ३५, पं. १ निश्चयात्मकलुपप्रस्त्रेकलक्षणो हेतुः—हेतु और साध्य के परस्पर संबंध को लेकर भारतीय दर्शनों में विस्तृत चर्चा है। धीरूप तात्कालिकों ने इसके लिए विलक्षण के रूप में मापदंड उपस्थित किया है—

१) प्रकाशस्त्व—अर्थात् हेतु को पक्ष में रहना चाहिए। पक्ष का अर्थ है—वह स्थान जहाँ अनुमानद्वारा साध्य का अस्तित्व घोषया जाता है। पर्वत में अग्नि का अस्तित्व घोषते समय पर्वत पक्ष है।

२) सपक्षस्त्व—सपक्ष का अर्थ है—वह स्थान जहाँ साध्य का अस्तित्व पूर्वनिश्चित है, जैसे रसोहित। जहाँ भी हेतु का होना आवश्यक है।

३) विपक्षस्त्व—विपक्ष का अर्थ है—वह स्थान जहाँ साध्य का न होना निश्चित है, जैसे सरोवर। चानी में वाग नहीं होती। ऐसे स्थान में हेतु नहीं रहना चाहिए। जिस हेतु में ये तीनों वास्ते हैं, वही साध्य

को सिद्ध कर सकता है। न्यायदर्शन हेतु और साध्य में कार्य-कारणभाव अथवा व्याप्ति-व्यापकभाव का होना आवश्यक मानता है। भूम और अग्नि में कार्य-कारणभाव है तथा ग्राह्यत्व और मनुष्यत्व में व्याप्ति-व्यापकभाव। हेतु कार्य या व्याप्ति होता है और साध्य कारण या व्यापक। जैनधर्मने इन संबंधों की चर्चा में नहीं अड़ता। उसका कथन है कि हेतु के विषय में उतना पर्याप्त है कि यात्रा के बिना उसका न रहना निश्चित हो। इनमें मात्र से वह साध्य का प्रत्यापक हो सकता है। उदाहरण के रूप में हम यह अनुमान करते हैं कि कल रविवार होगा, क्योंकि आज शनिवार है। यहाँ और रवि में कार्यकारण या व्याप्ति-व्यापक का संबंध नहीं है। किंतु भी अनुमान किया जा सकता है। एक हेतु के रूप को देखकर हम उसके मीठा होने का अनुमान करते हैं। क्योंकि रूप और रस सहचर हैं। इस प्रकार जैन लाक्षिकों ने हेतु के पूर्वचर, उत्तरचर, उत्तरचर आदि अनेक चेद किए हैं। वास्तव में देखा जाय तो यह नियमित ऐतिहासिक है। न्यायदर्शन इन्हीं हेतुओं को दूसरे शब्दों में उपस्थित करता है। उदाहरण के रूप में वह कहाया—कल रविवार होगा, क्योंकि वह शनिवार का उत्तरभावी है। रविवारस्थ और शनिवार के उत्तरभावित्व का सामानाधिकरण है और इसी आधार पर व्याप्ति स्थिर की जाती है।

पृष्ठ ३३, च. १० शक्ति अप्रतीतमितिविशेषणम्—अप्रतीत का अर्थ है असिद्ध अथवा अज्ञात। जो अस्तु सिद्ध या ज्ञान नहीं है, उसी की साध्य के रूप में उपस्थित किया जाता है, किन्तु बहुत बार ऐसा भी होता है कि पूर्वसिद्ध अस्तु में भी धनिवादी धर्मवा जिज्ञासु के द्वारा जांका उपस्थित होने पर उसे सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। ऐसी स्थिति में वह पुनः साध्य बन जाती है। इसी प्रकार विषयीत धारणा को दूर करने के लिए जो हुए विवास की पुनः पर्याप्ति की जाती है। अतः यहाँ अप्रतीति शब्द के तीन अर्थ हैं— शक्ति, विषयीत और अनध्यवसित।

पृष्ठ ३८, च. १ प्रत्यक्षाविषयकृत्य न्यायदर्शन अनुमान को प्रत्यक्ष ने प्रबल मानता है। किन्तु जैन-दर्शन का कथन है कि प्रत्यक्ष अनुमान का उपजीव्य है। अतः प्रत्यक्ष से प्रबल नहीं हो सकता। जो अनुमान प्रत्यक्षाविषय है, उसे नम्यक् नहीं कहा जा सकता।

पृष्ठ ४०, च. ५ विकल्पमिद्दृ—मिस चन्द्र में साध्य की गता मिद्दृ की जाती है, उसे पक्ष या धर्मी कहा जाता है। यह कहीं पर प्रसाणमिद्दृ होता है, जैसे अग्नि के अनुमान में पर्याप्त। हम उसे प्रत्यक्ष देखने हैं। किन्तु बहुत से अनुमान ऐसे भी होते हैं जहाँ धर्मी की केवल कलना की जाती है। सत्यात्म्य का निर्णय वाद में होता है। उदाहरण के रूप में मीमांसक सर्वज्ञ का अस्तित्व नहीं मानता। उसके ग्रन्थने सर्वज्ञ की भन्ना का अनुमान प्रस्तुत करने समय कहा जायगा कि—‘अस्ति सर्वज्ञः’। यहाँ सर्वज्ञ पक्ष है और उसमें अस्तित्व साध्य है। मीमांसक प्रश्न उठाता है कि पक्ष के बिना आप साध्य को कहीं सिद्ध कर रहे हैं? इस विसंगति को दूर करने के लिए जैनधर्मने का कथन है कि यहाँ पक्ष या धर्मी विकल्पसिद्ध है। अर्थात् उसे वास्तविक या अवास्तविक कुछ न कहकर हम अनुमान करते हैं और यदि हेतु साध्य को सिद्ध कर देता है तो पक्ष भी प्रमाणित हो जाता है। न्यायदर्शन ऐसे स्वानों पर अनुमान का रूप बदल देता है। वह व्यक्तिविशेष को लेकर सर्वज्ञत्व की सिद्धि करेगा। अथवा ‘अस्ति सर्वज्ञः’ न कहकर ‘अस्ति करिष्यद् सर्वज्ञः’ यों कहेगा। ऐसी स्थिति में ‘करिष्यत्’ पक्ष ही जाता है और सर्वज्ञत्व साध्य। ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करते समय भी ‘ईश्वरो अस्ति, नहीं कहता। हमके स्थान पर कहता है—‘कित्यंकुरादिकं कर्तृजन्यं,’ कार्यत्वात् यहीं पक्ष शिति, अंकुर आदि हैं और उनमें कर्तृजन्यत्व साध्य है। मनुष्य उनका कहाँ नहीं हो सकता, अतः अपने-आप ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

यक्षोविजय ने भी विद्येषावश्यक-भाष्य का उल्लेख करते हुए इस नश्य को स्वीकार किया है। उनका कथन है कि शिद्धे उसमें समय समाप्तयुक्त् ७५ को सोढ़ कर एक में दूसरे का अग्रलाप समझना चाहिए।

उदाहरण के रूप में जब हम कहते हैं-'करविषयाणं नास्ति' तो इसका अर्थ है—'करे विषयाणं नास्ति'। यही सर भ्रमी है और उसमें विषयाणरूप वर्म का निवेद किया गया है। आव्यकार का कथन है कि असत् का निषेध नहीं होता।

पृष्ठ ४७, पं. ७ कविचत् कारणरूप - कार्य से कारण और व्यापक का अनुमान सभी दर्शनी ने माना है। जैनदर्शन का कथन है कि कारण से भी कार्य का अनुमान हो सकता है। जैसे विशेषप्रकार के वाकलों को देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि वृष्टि होगी। स्यायशर्णन अग्नि से दूस के अनुमान को सेपाधिक बहता है और उसे हेत्य अधार मानता है। उसका कथन है कि अग्नि से धूंजाँ तभी उत्पन्न होता है, इंधन वज्र आदि हो। यही उपाधि है। जैनदर्शन इस कथन से कि जहाँ वास्तव पूरी तरह वाकलों द्वारा उत्पत्त दुर्घटना हो, वहाँ उससे कार्य का अनुमान किया जा सकता है। इसके लिए दो बातें उपस्थित की जाती हैं—कारण साकल्य और सामर्थ्य का अप्रतिबन्ध। अतः कारण को हेत्वाभास नहीं मानना चाहिए। इसी प्रकार पूर्वचर, उत्तरचर आदि हेतु भी हो राते हैं। सोल्य-कारिका में कारण से कार्य के अनुमान को पूर्वकृत कहा गया है। इसका अर्थ है—पूर्वविस्था में उत्तर-अवस्था का अनुमान। इसके विपरीत कार्य से कारण के अनुमान को शेषवत् कहा है और व्याप्त से व्यापक के अनुमान की सामान्यतोहान्।

पृष्ठ ५६, पं. ९ के पुनः कालाद्यः? --- अनेकांत जैनदर्शन का सर्वस्व है। उसका कथन है कि एक ही वस्तु का भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से अनेक रूपों में प्रतिपादन् किया जा सकता है। एक ही व्यक्ति किसी की अपेक्षा पिता है, किसी की अपेक्षा भाई, किसी की अपेक्षा पुत्र और किसी की अपेक्षा पति। विरोध तभी होता है जब अपेक्षाओं को छोड़ दिया जाता है। इसी प्रतिपादन दौली को स्वादवाद कहा जाता। स्वाद् का अर्थ है—कथचित् अर्थात् किसी अपेक्षा से और वाद का अर्थ है—कथन या वक्तव्य। आगम साहित्य में इसके लिए चार अपेक्षाएँ मिलती हैं। दृश्य, अर्थात् व्यक्ति, अंश, काल, और भाव अर्थात् अवस्था या गतिय। यशोविजय ने इनकी संख्या आठ लिया है। इनमें आत्माद्य, गुणिदेश और काल कमशः द्रव्य द्वेष और काल के समान हैं। भाव को ५ बातों में विभक्त कर दिया गया है—अंश, गंवंध, उपकार, संसर्ग और शब्द। जमनी के प्रसिद्ध दार्शनिक कांट ने भी इन अपेक्षाओं का प्रतिपादन किया है। उन्होंने वस्तु का दो भागों में विश्लेषण किया है। प्रथम भाग है, वस्तु का अपना स्वरूप (Thing in itself) दूसरा भाग है उसकी व्याख्या (Interpretation) व्याख्या करने गमय प्रत्येक व्यक्ति अपनी परिस्थिति का व्यान रखता है। स्थान अंश, स्वार्थ, वैयक्तिक गंवंध आदि सत्त्व इस परिस्थिति के घटक हैं। जैनदर्शन का भी कथन है कि शब्द समग्रवस्तु का प्रतिपादन नहीं कर सकता। प्रत्येक वस्तु अनेक अमतिमक है और वक्ता अपनी अपेक्षा के अनुसार किसी धर्म को पकड़कर व्यवहार करता है। वेदांत ने मूल द्रव्य को सत्य कहा और इन अपेक्षाओं वा गुणों को मिथ्या। दूसरी ओर बोढ़ दर्शन का कथन है कि केवल गुण ही सत्य हैं। द्रव्य की सत्ता कोरी कल्पना है। जैनदर्शन दोनों का समन्वय करता है। उसका कथन है कि दोनों सत्य हैं। सामान्य और विशेष दोनों वास्तविक हैं। वह को घड़ा भी कहा जा सकता है और एक सल्ला भी। यह वक्ता की अपनी वृद्धि है कि वह सामान्य का प्रतिपादन करता है और कहीं विशेष का।

पृष्ठ ५९, पं. २ अथ नया—नय शब्द की व्यूत्पत्ति है—'नीयते अनेति नयः' अर्थात् वह प्रतीति जिसके द्वारा व्यनित किसी एक दिग्या की ओर चल पड़ता है। प्रमाण सर्वग्राही होता है। उसका लक्ष्य होता है, वस्तु को पूर्ण रूप में जानना। इसके विपरीत नय का शूकाव वस्तु के किसी एक लंब की ओर होता है। वह दूसरे अंश का अपलाप नहीं करता। किन्तु तात्कालिक स्वार्थ को लेकर किसी एक का चूनाव करता है। उदाहरण के रूप में एक ही व्यक्ति को भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है। वह व्यवसाय की चर्चा होती है तब उसे अछयपक या व्यापारी कहा जाता है। जब जाति की सौ भाषाएँ

या क्षमिय, जब प्राणिशासन की तो मनुष्य, जब दार्शनिक तत्त्वों की तो आत्मा या चेतन। विभिन्न अपेक्षाओं के आधार पर किए जाने वाले इस व्यवहार को 'नय' कहा जाता है। प्रमाण का मुख्य लक्ष्यवस्तु का ज्ञान होता है और नय का मुख्य लक्ष्य व्यवहार।

पृष्ठ ६३, पं. ६ तथा विशेषपाहिणः ~ तत्त्वार्थसूत्र में आया है 'अनितानपितसिद्धः' अर्थात् वस्तु अपित और अनपित के रूप में सिद्ध होती है। अपित का अर्थ है—विशेष। जहाँ वस्तु को कोई आकार दे दिया जाता है। अनपित का अर्थ है—सामान्य, जहाँ यह आकार नहीं दिया जाता।

पृष्ठ ६४, पं. ८ स्थितपक्षत्वाद्—नय के स्वरूप में बताया गया है कि वह किसी एक पक्ष को लेकर चलता है। सैद्धान्तिक चर्चा के समान साधना के लोक में भी उसका वही हजिटकोण है। जैनदर्शन मोक्ष के लिए दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों को कारण मानता है। जैनेतर दर्शनों में भवितव्यादी परंपराएँ दर्शन या अद्वा पर बल देती हैं। वेदांत, सांख्य, न्याय आदि दार्शनिक परंपराएँ ज्ञान पर और मीमांसिक किया पर। जैनसाधना में भी विभिन्न नय विभिन्न साधनों को पृथक्-पृथक् रूप में लेकर चलते हैं।

इन्द्रचन्द्र शास्त्री

